

इकाई 14 व्यापार, व्यापार-तंत्र एवं शहरीकरण : उत्तर भारत, लगभग C.300-1300 ईसवी

इकाई की रूपरेखा

- 14.1 प्रस्तावना
- 14.2 स्रोत
- 14.3 व्यापार, बाज़ार एवं शहरी केन्द्र : 300-650 ईसवी
 - 14.3.1 व्यापारी
 - 14.3.2 श्रेणियाँ
 - 14.3.3 बाज़ार
 - 14.3.4 व्यापार-मार्ग
 - 14.3.5 लंबी दूरी का समुद्री व्यापार
 - 14.3.6 सिक्का ढलाई
 - 14.3.7 शहरी केन्द्र
- 14.4 व्यापार, बाज़ार एवं शहरी केन्द्र : 650-1300 ईसवी
 - 14.4.1 शहरों के पतन पर विवाद - पतन के पक्ष में तर्क
 - 14.4.2 शहरों के पतन पर विवाद - पतन के विरुद्ध में तर्क
- 14.5 सारांश
- 14.6 शब्दावली
- 14.7 अभ्यास
- 14.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

14.1 प्रस्तावना

व्यापार और शहरीकरण संबंधी लगभग नौ शताब्दियों का (लगभग 600 ई.पू. - 300 ईसवी) हमारा पूर्व सर्वेक्षण, विनिमय से जुड़ी गतिविधियाँ और उत्तर भारत में शहरी केन्द्रों का बड़ी संख्या में उदय, एक स्थिर विकास को इंगित करता है। चौथी शताब्दी ईसवी से पूर्व के पाँच सौ वर्ष वाणिज्य के चरमोत्कर्ष, खासकर लंबी दूरी के व्यापार और उत्तर भारत में शहरीकरण, का संकेत देते हैं। परंपरागत इतिहासलेखन आमतौर पर आने वाले काल अर्थात् लगभग 300-1300 ईसवी में आर्थिक जीवन में अचल निरन्तरता और किंचित परिवर्तन का आभास देता है। यह एक ऐसी स्थिति है जिस पर हाल के दशकों में अनेक अग्रणी इतिहासकारों द्वारा प्रश्न चिह्न लगाया गया है। ऐसा वस्तुतः संभव है कि हम अर्थव्यवस्था के कृषि और गैर-कृषि दोनों ही क्षेत्रों में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तनों को पहचान सकें। यही कारण है कि इन हजार सालों की आर्थिक दशा का एक पृथक् इकाई के रूप में अध्ययन करना बेहतर होगा। उत्तर भारत में इन हजार सालों के दौरान सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जीवन में होने वाले परिवर्तनों को दृष्टिगत करते हुए, 300 ईसवी से 1300 ईसवी की इस सहस्राब्दि को दो कालक्रमिक खंडों में बाँटना तर्कसंगत होगा : लगभग 300-650 ईसवी तथा 650-1300 ईसवी। (विस्तृत विवरण के लिए देखें हमारा पाठ्यक्रम ई.एच.आई.-03, खंड 1)

300 ईसवी से 650 ईसवी की अवधि ने उन विद्वानों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित किया है जो आमतौर पर इस काल को गुप्तकाल अथवा भारतीय इतिहास के क्लासिकल युग के रूप

में उल्लेख करते हैं। इस काल में दरअसल उत्तर भारत (लगभग 320-570 ईसवी) के अधिकतर भागों पर महान् गुप्तवंश की राजनीतिक सर्वोच्चता का उदय दृष्टिगोचर होता है। सातवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध उत्तरी भारत के राजनीतिक इतिहास में कन्नौज के हर्षवर्धन की राजनीतिक सत्ता के उदय के लिए प्रसिद्ध है, हालाँकि एक सीमित अवधि के लिए ही। यह काल (300-650 ई.) भारतीय इतिहासलेखन में महान् सांस्कृतिक उपलब्धियों और आम शान्ति एवं समृद्धि के लिए सराहा जाता है। जबकि पूर्व काल में सांस्कृतिक संरक्षण का एक बड़ा भाग गैर-राजकीय व्यक्तियों द्वारा प्रदान किया गया, चौथी शताब्दी के उपरांत और विशेष रूप से सातवीं शताब्दी के बाद से सांस्कृतिक गतिविधियों हेतु संसाधन मुख्यतः शाही घरानों से आये। यह अपने आप में स्वयं ही सामाजिक-सांस्कृतिक स्थितियों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों का सूचक है।

लगभग 650 ई. से 1300 ई. में फैले साढ़े छह वर्षों में उत्तर भारत समेत पूरे भारतवर्ष में सामाजिक-आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जीवन में क्षेत्रीय लक्षण उभरकर आये। राजनीतिक परिदृश्य की प्रमुख विशेषता उत्तर भारत में अनेक क्षेत्रीय एवं स्थानीय शक्तियों की विद्यमानता और वहाँ गुप्त साम्राज्य जैसी शक्तिशाली सत्ता का अभाव था। यही बात दक्खन और सुदूर दक्षिण की राजनीतिक स्थिति के लिए भी सत्य है। सत्ताओं के बीच स्थानीय संघर्षों के बावजूद सामरिक विजयें अनिवार्यतः क्षेत्रीय विस्तार में परिणत नहीं हुईं। क्षेत्रीय एवं स्थानीय शक्तियों ने न सिर्फ गंगा घाटी में ही सर उठाया, बल्कि वे इस समय तक कामरूप (असम का ऊपरी क्षेत्र), समतलों (पूर्वी बंगाल), दहला (मध्य प्रदेश में जबलपुर क्षेत्र), कश्मीर एवं राजस्थान जैसे हाशिये के क्षेत्रों में भी पदार्पण कर चुकी थीं। इनमें से अनेक क्षेत्रों ने 600 ई. से पूर्व तक किसी राजतंत्रीय राज्य-व्यवस्था का अनुभव तक नहीं किया था। लगभग ढाई शताब्दी तक विस्तृत गुप्त साम्राज्य के संरक्षण और उत्तर भारत के अनेक नए क्षेत्रों में राजतंत्रीय राज्यों का बड़ी संख्या में उद्भव निश्चय ही एक सशक्त कृषि आधार से हुआ होगा। वास्तव में, 300 से 1300 ई. तक की अवधि में कृषि-व्यवस्था का अत्यधिक प्रसार इस अर्थव्यवस्था के अत्यधिक ग्रामीणीकरण की छवि को प्रकट करता है। अनेक इतिहासकारों के अनुसार, 600-1000 ई. के दौरान अर्थव्यवस्था के गैर-कृषि क्षेत्र में पतन होना शुरू हो गया। 1000 ईसवी के पश्चात् ही शिल्पकलाएँ, वाणिज्य एवं शहरी केन्द्र फिर से पुनर्जीवित हो उठे। इस धारणा ने उल्लेखनीय विद्वतापूर्ण विवादों को जन्म दिया। परंतु सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों में व्याप्त बढ़ते हुए क्षेत्रीय लक्षणों की उपेक्षा करना मुश्किल होगा। यही कारण है कि 650-1300 ई. की अवधि भारतीय इतिहास में उत्तर-गुप्तकाल अथवा 'पूर्व मध्यकाल' के नाम से जानी जाती है। 'पूर्व मध्यकाल' शब्द में ही निहितार्थ है कि इस कालावधि ने 'प्राचीन' काल की स्थिति में परिवर्तनों का संकेत दिया; यह वस्तुतः प्राचीन से मध्यकाल के बीच संक्रमण काल का संकेत करता है और इसीलिए इसे 'पूर्व मध्यकाल' की संज्ञा दी गई है।

14.2 स्रोत

सर्वेक्षणाधीन काल में पूर्व काल के बाद अनेक बदलाव आये, यह तथ्य उन नए प्रकार की तत्कालीन अध्ययन सामग्रियों एवं दस्तावेजों द्वारा भी इंगित होता है जो बदलती स्थिति के स्वयं साक्षी थे। इस काल के अध्ययनार्थ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्रोत-सामग्री है विशाल संख्या में प्राप्त अभिलेख। अभिलेख तीसरी शताब्दी ईसापूर्व से ही दृष्टिगोचर हो चुके थे। परन्तु चौथी शताब्दी बाद के अधिकांश अभिलेख ताम्रपत्रों (ताम्रशासन/ताम्रपत्र) की श्रेणी में ही आते हैं। इन ताम्रपत्रों में अनुज्ञान पाने वालों को शाही आदेशों द्वारा राजस्व-मुक्त भू-सम्पदा का हस्तांतरण किए जाने के लिए लिपिबद्ध किया गया। यद्यपि यह प्रथा संभवतः सबसे पहले दक्खन में दूसरी शताब्दी ईसवी के आसपास नज़र आई, भू-अनुदान प्रदान किए जाने की प्रथा पूरी तरह से चौथी शताब्दी से ही स्थापित हुई और 600 ईसवी के पश्चात् उसने एक अखिल-भारतीय आयाम ले लिया। अधिकांश ताम्रपत्रों में किसी ब्राह्मण, किसी ब्राह्मण समूह अथवा किसी धार्मिक संस्था

(बौद्ध मठ, ब्राह्मणवादी मंदिर अथवा कोई मठ अथवा कोई जैन प्रतिष्ठान) को उपहार में दिए गए राजस्व-मुक्त अनुदान लिपिबद्ध हैं। धार्मिक अनुदान प्राप्तकर्ताओं (धार्मिक दान के प्राप्तकर्ताओं) को दिए गए ऐसे अनुदान को *अग्रहार* कहा जाता है। ताम्रपत्र चूँकि भू-सम्पदा के अनुदान संबंधी राजकीय अभिलेख हैं, वे ग्रामीण अर्थव्यवस्था को समझने के लिए अमूल्य हैं, विशेष रूप से भू-सम्पदा की हस्तांतरण प्रक्रिया, ग्रामीण आवास-पैटर्न, फसलों, सिंचाई परियोजनाओं, कृषकों एवं कृषि-राजस्व माँग को समझने के लिए। परंतु, यदा-कदा ये अनुदान उन महत्त्वपूर्ण व्यापारियों एवं शिल्पियों पर भी प्रकाश डालते हैं जिनकी विद्यमानता भू-अनुदान संबंधी धार्मिक कार्य के महत्त्वपूर्ण गवाहों के रूप में लिपिबद्ध थी। व्यापारी ताम्रपत्र अनुदानों में किसी समूह में अथवा सभा के रूप में भी किन्हीं मांगलिक दिवसों पर नज़र आते हैं, जब वे किसी देवता अथवा मंदिर को उन वस्तुओं पर, जिनका वे व्यापार करते थे, कुछ करों का स्वेच्छा से दान देने का निर्णय लेते थे। ऐसे अनुदानों में स्वाभाविक रूप से न सिर्फ़ व्यापारी दृष्टिगोचर होते हैं, बल्कि विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का भी वर्णन मिलता है। ये अभिलेख हमें विभिन्न प्रकार के बाज़ारों की भी जानकारी देते हैं, जिनमें से कुछ से महसूल और सीमाकर (*शुल्क*) वसूल किए जाते थे, इससे व्यापार की राजस्व संभावना से संबंध के संकेत मिलते हैं। ऐसे अभिलेखों की भी जानकारी मिलती है जिनमें व्यापारियों द्वारा वैयक्तिक रूप से दिए गए अनुदान लिपिबद्ध हैं, या तो किसी देवता के पक्ष में या फिर कुछ परोपकारी कार्यों हेतु।

व्यापार एवं शहरी केन्द्रों संबंधी जानकारी विस्तृत विधि-संहिताओं अथवा सैद्धांतिक ग्रंथों (*शास्त्रों/धर्मशास्त्रों*) से मिलती है। विष्णु, वंशिष्ठ, बृहस्पति एवं नारद कृत *संहिताएँ* हमारे प्रयोजनार्थ उपयोगी होंगी। इन संहिताओं पर टिप्पणियाँ (उदाहरणार्थ, *मनुस्मृति* एवं *याज्ञवल्क्यस्मृति* पर टिप्पणियाँ) भी इस विषय पर कुछ उपयोगी जानकारी प्रस्तुत करती हैं। कुछ महत्त्वपूर्ण जानकारी अमरसिंहा (पाँचवीं-छठी शताब्दी ईसवी) के प्रसिद्ध शब्दकोश *अमरकोश*, *अभिज्ञानचिन्तामणि* और हेमचन्द्र (ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी ईसवी) की *देशीनाममाला* तथा *लेखापद्धति* जैसी तकनीकी संहिताओं से प्राप्त की जा सकती है। वाणिज्यिक कार्यकलापों संबंधी कुछ जानकारी विशाल रचनात्मक साहित्य में भी उपलब्ध है, उदाहरण के लिए, कालिदास की कृतियों, शूद्रक के *मृच्छकटिकम्*, दंडिन के *दशकुमारचरित* एवं विभिन्न प्रकार के जैन ग्रंथ। इस तथ्य पर ध्यान देना आवश्यक है कि दो सुप्रसिद्ध जैन ग्रंथ *जगदुचरित्र* एवं *वस्तुपालमहात्म्यम्* पूर्व मध्यकालीन गुजरात के दो प्रमुख व्यापारियों की जीवनियाँ हैं। व्यापार, विशेष रूप से भारत के विदेश व्यापार, के इतिहास हेतु स्रोत के रूप में विदेशी साहित्यिक स्रोतों का विशेष महत्त्व है। फाह्यान (पाँचवीं शताब्दी ईसवी का पूर्वार्द्ध) ह्वेनसाँग (सातवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध), इत्सिंग (सातवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध) और चाऊ जु कुआ (1225 ईसवी) के चीनी विवरण भारत में व्यापार को समझने के लिए अमूल्य स्रोत हैं। भारत में अरबी और फ़ारसी के भौगोलिक और यात्रा संस्मरण [सुलेमान (लगभग 851 ई.), इब्न खुर्दाद बिह (882 ई.), अल-मसूदी (915 ई.), बुजुर्ग इब्न शहरियार (995 ई.), हुदूद-अल आलम का बेनाम लेखक (982 ई.), अल-बरूनी (973-1048 ई.), और अल-इदरीसी (1162 ई.)] भारतीय उत्पादक वस्तुओं एवं पश्चिम एशिया के साथ भारत के व्यापारिक संबंधों के विषय में जानकारी से भरपूर हैं, हालाँकि ये विवरण कहीं-कहीं एक ही सी बात कहते हैं, क्योंकि ज़्यादातर अरबी लेखकों ने भारत का भ्रमण ही नहीं किया था। इन विवरणों में सीरिया के ईसाई भिक्षु कॉस्मास इंदीकोप्ल्यूस्तस के छठी शताब्दी ईसवी के उत्तरार्द्ध में लिखे विवरणों और वेनिस यात्री मार्को पोलो (तेरहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध) के भारत संबंधी प्रसिद्ध विवरणों को जोड़ा जा सकता है। एक असाधारण प्रकार का स्रोत है मध्यकालीन यहूदी व्यापारियों के पत्र, जो भारत के पश्चिमी तट और लाल सागर के बीच नियमित रूप से व्यापार करते थे। यद्यपि उनके सम्पर्कों के मुख्य बिन्दु कर्नाटक एवं मालाबार तट थे, इन अनुपम व्यापारिक-पत्रों में लंबी दूरी के व्यापार में वास्तविक भागीदारों के अनुभवों को लिपिबद्ध किया गया है। ये गुजरात तट पर व्यापार संबंधी महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रस्तुत करते हैं।

600 ई.पू. से 300 ईसवी में प्रचुर मात्रा में प्राप्त पुरातत्वीय आँकड़ों की तुलना में बाद की सहस्राब्दि के दौरान हमें सिर्फ मुट्ठीभर उत्खनित एवं अन्वेषित सामग्रियाँ ही प्राप्त होती हैं। प्रारंभिक ऐतिहासिक बस्तियों से भिन्न, प्रारंभिक मध्यकालीन बस्तियों का योजनाबद्ध रूप से अन्वेषण एवं उत्खनन नहीं किया गया है और इसी कारण व्यापार एवं शहरीकरण संबंधी पुरातत्वीय आँकड़े नितान्त अपर्याप्त हैं। गुप्तकालीन शासकों को उत्कृष्ट स्वर्ण और रजत सिक्के भी जारी करने का श्रेय जाता है। गुप्त शासकों के स्वर्ण सिक्कों की नकल सातवीं शताब्दी ईसवी की कई छोटी राजसत्ताओं द्वारा की गई। परन्तु बहुमूल्य धातु (सोना और चाँदी) के सिक्कों की संख्या में प्रारंभिक मध्यकाल में पूर्व शताब्दियों के सिक्कों की संख्या की तुलना में कमी आई। उत्कृष्ट सिक्कों की ढलाई उत्तर भारत में कुछ क्षेत्रों तक ही सीमित थी; 1000 ईसवी के बाद ही कीमती धातुओं के सिक्कों की ढलाई पुनः प्रारम्भ हुई। मुद्रा-संबंधी स्रोत इस प्रकार प्रारंभिक ऐतिहासिक सिक्कों द्वारा प्रस्तुत आँकड़ों की तुलना में इस काल में कम आँकड़े पेश करते हैं। इसकी व्याख्या कुछ विद्वानों द्वारा वाणिज्य के हास के एक प्रमुख संकेतक के रूप में की गई है, खासकर 600-1000 ई. की कालावधि में भारत का विदेश व्यापार ऐसी स्थिति में ही था। प्रारंभिक मध्यकाल के दौरान भारत के कुछ हिस्सों में पाये गए सिक्कों के प्रमाण पर चर्चा प्रासंगिक भागों में की जायेगी।

14.3 व्यापार, बाजार एवं शहरी केन्द्र : 300-650 ईसवी

रोमन जगत् के साथ भारत के फलते-फूलते व्यापार में लगभग 250 ईसवी के पश्चात् हास दिखाई देता है; पश्चिमी देशों में भारतीय उत्पादों की माँग में शायद कमी आई थी और व्यापार की परिभाषा में गिरावट आई प्रतीत होती है। लगभग 262 ईसवी के आसपास कुषाण साम्राज्य का पतन भी इस अवधि में उत्तर भारत के विदेश व्यापार के कम परिमाण में सहायक सिद्ध रहा हो सकता है। परन्तु व्यापार परिवृश्य में इन परिवर्तनों का, भारत के भीतर और उत्तर भारत में व्यापारिक लेन-देनों में किसी बड़े संकट से तात्पर्य नहीं है।

14.3.1 व्यापारी

प्रसिद्ध कोशकार अमरसिंहा व्यापार की व्याख्या क्रय-विक्रय (वस्तुओं की खरीद-फरोख्त) के रूप में करते हैं। पहले की ही भाँति, वणिक (सामान्य व्यापारी), श्रेष्ठी (बहुत धनी व्यापारी, संभवतः बैंकर अथवा मुद्रा का व्यापारी), और सार्थवाह (कारवाँ व्यापारियों का नेता) इस काल में भी लगातार सक्रिय रहे। वर्ण आचार-संहिताओं के अनुसार उन्हें वैश्यों की श्रेणी में रखा जा सकता है। परन्तु कुछ अवसरों पर व्यापारिक गतिविधियाँ इस वर्ण मानदंड का अतिक्रमण करती थीं। इस प्रकार, दो व्यापारी भाई, भृकुटिवर्मा और अचलवर्मा इन्द्रपुर (आधुनिक इंदौर, बुलन्दशहर ज़िला, उत्तर प्रदेश) में स्थित एक सूर्य मंदिर हेतु (नकद में) धार्मिक-अनुदान करने वालों के रूप में 466 ईसवी (स्कंदगुप्त के शासन काल में) के एक अभिलेख में दृष्टिगोचर होते हैं; वे क्षत्रिय मूल के थे और इसीलिए उन्हें क्षत्रिय-वणिक कहा गया। वर्ण आचार-संहिता का ऐसा उल्लंघन न तो उनके लिए कोई बदनामी लाया, और न ही धर्म-स्थल पर उनका दान अस्वीकार्य ही हुआ। इस प्रकार के तीन वणिकों - शक्तिनाग, कुमारनाग, और स्कंदनाग - ने मध्य प्रदेश के वर्तमान पूर्वी भाग में एक अन्य सूर्य मंदिर को संरक्षण प्रदान किया। छठी शताब्दी के प्रारम्भ में वे गंगा घाटी में नहीं वरन् दहला (जबलपुर के निकट) के प्राचीन सीमाक्षेत्र में, जो एक वन-क्षेत्र (अटाविराज्य) में स्थित था, में दृष्टिगोचर होते हैं। छठी शताब्दी के प्रारंभ के ही दो अन्य अभिलेखों में इसी क्षेत्र से एक व्यापारी (वणिक) और एक शिल्पकार (कारू) नज़र आते हैं। ये दृष्टान्त न सिर्फ गंगाघाटी में बल्कि मध्य भारत के अपेक्षाकृत अलग-थलग क्षेत्र में भी व्यापारियों की सक्रिय विद्यमानता को दर्शाते हैं। व्यापारी का व्यवसाय अपनाता इतना आम था कि प्रसिद्ध नाटक मृच्छकटिकम् का नायक चारुदत्त एक

व्यापारी था, हालाँकि वह एक ब्राह्मण परिवार में जन्मा था (*विप्र-सार्थ*; *विप्र* = ब्राह्मण और *सार्थ* 'सार्थवाह' का संक्षिप्त रूप है)। यह नाटक वस्तुतः यह बताता है कि चारुदत्त का पिता और दादा भी व्यापारी थे। यद्यपि वे ब्राह्मण मूल के थे, वे व्यापारियों को सौंपे गए शहर के मौहल्ले (*श्रेष्ठी-चत्वारे*) में रहते थे। *सार्थवाह* और *श्रेष्ठी दामोदरपुर* (बंगलादेश के उत्तरी भाग में), जो गुप्त साम्राज्य के पुंद्रवर्धन भुक्ति (प्रांत) में शामिल था, से प्राप्त पाँच गुप्तकालीन ताम्रपत्रों में नियमित रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। इन ताम्रपत्रों का काल लगभग 443-44 से 543-44 ईसवी अंकित है (अर्थात् एक शताब्दी)। इन अभिलेखों में प्रयुक्त वास्तव में शब्द है *नगरश्रेष्ठी*। *नगर* का अभिप्राय शहर से है और *श्रेष्ठी* का मुख्य व्यापारी से; इस शब्द का इस प्रकार अर्थ है — शहर का मुख्य व्यापारी, संभवतः कोटिवर्ष शहर का (इसकी पहचान पुरातत्त्वीय स्थल बंगढ़, दक्षिण दीनाजपुर ज़िला, पश्चिम बंगाल के साथ की गई है), जहाँ से ये जारी हुए। *नगरश्रेष्ठी* शब्द की मुख्य बैंकर अथवा मुद्रा के व्यापारी के रूप में भी व्याख्या की गई है क्योंकि *श्रेष्ठी* प्रायः एक बहुत धनी व्यापारी होता था, जो विभिन्न व्यवसायों में धन निवेश करता था। उत्तरी बंगाल से प्राप्त गुप्तकालीन ताम्रपत्रों में *नगरश्रेष्ठी* के साथ ही *सार्थवाह* या कारवाँ व्यापारियों के नेता का भी वर्णन मिलता है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि *नगरश्रेष्ठी* और *सार्थवाह* ज़िला स्तरीय प्रशासन बोर्ड (*विषयाधिष्ठान*) के सदस्य होते थे और ज़िला अधिकारी (*विषयपति*) को सहायता प्रदान करते थे। ज़िला प्रशासक एक विशिष्ट अधिकारी होता था, जो पुंद्रवर्धन भुक्ति के प्रांतीय गवर्नर (*ऊपरिका* अथवा *ऊपरिका-महाराज*) द्वारा नियुक्त किया जाता था, जो स्वयं गुप्त सम्राट् द्वारा नियुक्त किया जाता था। *नगरश्रेष्ठी* और *सार्थवाह*, दूसरी ओर, उत्तरी बंगाल में गुप्तकालीन प्रांतीय सरकार के सवैतनिक अधिकारी नहीं होते थे। इसका तार्किक रूप से अर्थ होगा कि उत्तरी बंगाल में न केवल महत्त्वपूर्ण व्यापारी ही थे वरन् व्यापारी संगठन या निकाय भी थे। ऐसे व्यापारी निकायों के नेताओं को राज्य के वैतनिक कर्मचारी न होते हुए भी एक ज़िला बोर्ड के सदस्यों के रूप में लिया जाता था। यह व्यवस्था, जो कम से कम एक शताब्दी तक प्रचलन में थी, निश्चित रूप से पाँचवीं और छठी शताब्दी ईसवी में उत्तरी बंगाल के सामाजिक एवं राजनीतिक परिवेश में व्यापारियों के महत्त्व को दर्शाती है।

परंतु व्यापारियों की प्रमुख भूमिका (शिल्पकारों के साथ-साथ), मात्र उत्तरी बंगाल तक ही सीमित नहीं थी। कम से कम 270 मुहरें (*seal*) और/अथवा मुद्रांकन (*sealings*) वैशाली (उत्तरी बिहार) से प्राप्त हुई हैं जो गुप्तकाल की मानी जाती हैं। ये मुहरें व्यापारियों और शिल्पियों के व्यवसायी निकायों से संबंध रखती थीं (*श्रेष्ठी-सार्थवाह-कुलिका निगम/प्रथमा-कुलिका*, आदि)। *निगम* शब्द एक व्यावसायिक संगठन का संकेत करता है और *श्रेणी* का समानार्थक है। संभवतः वैशाली के व्यापारियों, कारवाँ व्यापारियों और शिल्पियों के अपने-अपने व्यावसायिक संगठन हों। इनके अतिरिक्त, व्यावसायिक संगठनों (*श्रेष्ठी सार्थवाह-कुलिका-निगम*) का एक अन्य विस्तृत निकाय भी होता था।

पुरातत्त्वीय प्रमाण इसीलिए कम महत्त्वपूर्ण रूप से दृश्यमान होते हैं कि व्यापारी निकायों जैसी अपनी-अपनी *श्रेणियों* में संगठित थे। ऐसे निकायों के सहकारी लक्षण (*समूह*) पर बृहस्पति और नारद के *धर्मशास्त्रों* में विशेष रूप से जोर दिया गया है। बृहस्पति के अनुसार, जैसे ही और जब भी किसी *श्रेणी* में कोई नया सदस्य लिया जाता था, तो उसे कुछ प्रक्रियाओं से गुजरना पड़ता था : (i) *कौशल* अथवा उसके नैतिक चरित्र का पता लगाने के लिए एक परीक्षण; (ii) *लेखाक्रिया* : निकाय के नियमों-विनियमों का पालन करने के लिए नए सदस्य द्वारा लिखित उत्तरदायित्व; तथा (iii) *मध्यस्थ* : किसी व्यक्ति की वांछित उपस्थिति जो उस नए सदस्य को अच्छी तरह जानता हो। *धर्मशास्त्र* संगठन की सुसम्बद्धता पर बार-बार जोर देता है। यह आशा की जाती थी कि *श्रेणी* का प्रत्येक सदस्य संगठन हेतु समान निवेश सुनिश्चित करेगा। यदि कोई सदस्य *श्रेणी* को हानि पहुँचाता है तो अन्य सदस्यों द्वारा उसके विरुद्ध दोषारोपित आपत्तियों के बावजूद दोषी सदस्य को *श्रेणी* द्वारा भुगते गए किसी भी नुकसान की भरपाई

करनी होती थी। संगठन के नियमों एवं शर्तों (संवित व्यतिक्रम) का उल्लंघन करने वाले सदस्य को कानूनी कार्रवाई का सामना करना पड़ता था। धर्मशास्त्र भी जोर देकर कहते हैं कि श्रेणी के कानून देश के कानूनों के बराबर ही थे। दूसरे शब्दों में, श्रेणी के दोषी सदस्य को सजा श्रेणी के कानूनों के अनुसार ही दी जानी होती थी।

दामोदरपुर से प्राप्त गुप्तकालीन ताम्रपत्र अनुदान

शासनिक वर्ष ... में फाल्गुन मास की 15वीं तिथि (?) वॉ दिवस जबकि परम-दैवता, परम-भट्टारक, महाराजाधिराज श्री बुद्ध-गुप्त थे (पृथ्वी के शासक), और जबकि कोटिवर्ष के विषय में, पुंद्रवर्धन की भुक्ति में ऊपरिका-महाराज जयदत्त के शासन के तहत समृद्ध हो रहा था, जो महाराज का कृपापात्र था, आयुक्त संदक (गंडक?), उसके (जयदत्त) द्वारा नियुक्त, नगरश्रेष्ठी रिभुपाल, व्यापारी वसुमित्र, मुख्य कुलिका वरदत्त और मुख्य मुन्शी विप्रपाल की संयत में (यथा, की मदद से) नगर (अधिष्ठान) के मामलों को देख रहा था, जहाँ इस श्रेष्ठी रिभुपाल द्वारा यह निवेदन इस प्रकार किया गया - "हिमवाच-छीखर (शाब्दिक रूप से, हिमालय का शिखर सम्मेलन) के डोंग-ग्राम में अप्रदा भूमियों के 4 कुल्यवाप मेरे द्वारा कोकामुख-स्वामी को दिए गए और 7 कुल्यवाप श्वेतवारहा-स्वामी को, इस उम्मीद से कि मुझे लाभ मिलेगा (और) धार्मिक गुणों की वृद्धि करने की खातिर; अब उन कृषि अधीन भूमियों के पड़ोस में मैं उन परम देवों कोकामुख-स्वामी और श्वेतवारहा-स्वामी (और?) एक नामलिंगम (?) के लिए दो मंदिर और दो भंडार-कक्ष बनवाना चाहता हूँ अतः आपके लिए उचित होगा कि (मुझे) वर्तमान बिक्री प्रथा के अनुसार ही वस्तु (भवन-भूमि) के साथ कुल्यवाप दें।"

राधागोविन्द बसक, 'द फाइव दामोदरपुर कॉपर-प्लेट इस्क्रिप्शन्स ऑफ द गुप्ता पीरियड', ऐपिग्राफिआ इंडिका, खंड 15, 1982, नई दिल्ली, प्लेट सं. 4 (अनु.), पृष्ठ 140-41.

14.3.2 श्रेणियाँ

विधि-साहित्य और अभिलेखों में भी व्यावसायिक संगठनों को श्रेणियों के रूप में जाना जाता था, जिसका प्रायः गलत ढंग से अंग्रेजी में guild के रूप में अनुवाद किया जाता है। हमें उपलब्ध स्रोतों में ऐसी श्रेणियाँ अधिकांश रूप में शिल्पियों और सेवा समूह के संगठन के रूप में मिलती हैं, और केवल आवश्यक रूप से व्यापारियों के। वणिकग्राम नामक व्यापारियों का एक विशिष्ट निकाय छठी शताब्दी के पश्चिमी भारत से प्राप्त तीन अभिलेखों में प्रमुखता से दृष्टिगत होता है। वणिकग्राम शब्द व्यापारियों के किसी गाँव अथवा बस्ती का संकेत नहीं करता बल्कि उनके एक व्यावसायिक निकाय की ओर इशारा करता है (एक समूह अथवा सामूहिक निकाय के अर्थ में ग्राम)। यहाँ व्यापारी संगठन वणिकग्राम के बारे में वर्णन करना उचित होगा। 503 ईसवी और 506 ईसवी के, संजेलि (गुजरात) से प्राप्त दो अभिलेखों में वणिकग्राम बड़ी प्रमुखता से दिखाई पड़ता है। अधिक विस्तृत जानकारी 503 ईसवी के अभिलेख से प्राप्त होती है। यह अभिलेख वद्रपाली में विभिन्न दिशाओं से आने वाले व्यापारियों के नामों का उल्लेख करता है। इस बात में किंचित ही संदेह होगा कि विचाराधीन व्यापारी संगठन में स्थानीय (वास्तव्य) और गैर-स्थानीय, दोनों ही व्यापारी होते थे। गैर-स्थानीय व्यापारी विभिन्न स्थानों से आते थे (चतुर्दिशाभ्यगतक वैदेश्य)। इस अभिलेख में स्पष्ट रूप से उल्लिखित तरह व्यापारियों में से कुछ तो कान्यकुब्ज (आधुनिक कन्नौज) और उज्जयिनी जैसे दूरवर्ती स्थानों से आए थे। एक व्यापारी का नाम, दुसुयेभास्सम - जो उज्जयिनी से आया था - स्पष्टतः गैर-भारतीय है। ये व्यापारी एक व्यापारी (वणिक) षष्ठी के घर (गृहवस्तुवेति) पर मिले, जो संभवतः वद्रपाली में एक स्थानीय व्यापारी था। इस व्यापारी-समूह ने एक विष्णु मंदिर के लिए कुछ उत्पादों पर स्वैच्छिक रूप से कर चुकाने का निर्णय लिया। ऐसा प्रतीत होता है कि तीन वर्ष पश्चात्, 506 ईसवी में, षष्ठी ने उसी वैष्णव मंदिर (परमदेवता भागवतायतन) को अपना घर (स्वदियगृहवस्तु)

दान कर दिया। वद्रपाली स्थित *वणिकग्राम* के सदस्यों द्वारा व्यवसाय की जाने वाली उपभोक्ता वस्तुएँ अधिकांशतः दैनिक ज़रूरतों की भारी वस्तुएँ थीं। यह महत्वपूर्ण है कि अनेक कर नकद में वसूले जाते थे, ज़्यादातर चाँदी के सिक्कों में (*रूपिणिका*, *विम्सोपणिका*), हालाँकि कुछ वस्तुओं, जैसे तेल पर कर वस्तु के रूप में लिया जाता था। गुजरात से प्राप्त 592 ईसवी के तृतीय अभिलेख में *वणिकग्राम* का प्रचुरता से उल्लेख मिलता है। इस चार्टर में, जो पश्चिमी गुजरात के लोहतग्राम में मैत्रक शासक द्वारा जारी किया गया, उन *वणिकग्रामों* हेतु अनेक विशेषाधिकारों का वर्णन है। ऐसी रियायतें इस उम्मीद से दी गई थीं कि लोहतग्राम में वे बसेंगे (*अचरस्थितिपात्र*)। इस अभिलेख में वर्णित सभी बहत्तर धाराएँ *वणिकग्राम* व्यापारियों के कार्यकलापों से संबद्ध हैं। 592 ईसवी के इस अभिलेख से इंगित होता है कि ये व्यापारी विदेश-यात्रा किया करते थे, संभवतः समुद्री बेड़ों से। यह अभिलेख हमें परिवहन संबंधी विभिन्न प्रकार के देशी तरीकों से अवगत कराता है, जिनमें नौका सेवाएँ, और भिन्न-भिन्न प्रकार के शिल्प उत्पाद शामिल हैं (उदाहरणार्थ, बाँस का काम, चमड़े का काम, और नील बनाना) जिन पर निर्धारित दरों पर कर वसूले जाते थे।

14.3.3 बाज़ार

हमारे स्रोतों में विनिमय के केन्द्रों का संकेत करते विभिन्न शब्द दिखाई पड़ते हैं। इसका अर्थ है कि विभिन्न प्रकार के बाज़ार विद्यमान थे। व्यापार के सामान्य ग्रामीण स्तरीय केन्द्रों को *हट्टा* कहा जाता था। कोमिला क्षेत्र, बंगलादेश से प्राप्त 507 ईसवी के एक अभिलेख में एक *दोसिहट्टा*, अथवा वस्त्रों के व्यापार हेतु एक केन्द्र दृष्टिगत होता है। बाज़ार का उल्लेख कालिदास की कृतियों में *विपणि* के रूप में भी हुआ है। कालिदास के शब्द *अपण* से तात्पर्य दुकानों ही प्रतीत होता है। नशीले द्रव्य-पदार्थ (शराब) को बेचने वाली दुकान को *सौंदिकापणम* के नाम से जाना जाता था और दुकानों की ओर जाती गली का उल्लेख *अपणमार्ग* के रूप में मिलता है। क्लासकीय संस्कृत साहित्य समृद्ध दुकानों से घिरे राजमार्गों (*रिद्धपणम राजपथम*) के विवरणों से भरा पड़ा है।

14.3.4 व्यापार-मार्ग

उत्तर भारत में विभिन्न स्थानों पर पहुँचने के लिए व्यापारी स्थलमार्गीय संचार-व्यवस्था के सुस्थापित मार्गों से आवागमन किया करते थे। उत्तर भारत के मैदानी इलाके, खासकर गंगा बेसिन और गंगा डेल्टा, निश्चय ही नदीय संचार-व्यवस्था की सुविधा प्रदान करते थे। दो सुप्रसिद्ध चीनी तीर्थ-यात्रियों — पाँचवीं शताब्दी के पूर्वाब्द में फाह्यान और सातवीं शताब्दी के पूर्वाब्द में ह्वेनसाँग — की यात्राओं का अनुशीलन दर्शाता है कि उत्तर भारत के बृहत्तर भाग, जो उत्तर-पश्चिमी सीमाक्षेत्रों से लेकर ब्रह्मपुत्र घाटी में बंगाल डेल्टा एवं कामरूप तक विस्तृत थे, पारंपरिक मार्गों से जुड़े थे। कहने की आवश्यकता नहीं कि वहाँ असंख्य संचार-संबंधी परेशानियाँ और मुश्किल क्षेत्रों एवं लुटेरों की वजह से असुरक्षित मार्गों के खतरे विद्यमान थे। उनके यात्रा-वृत्तांत इस पर भी प्रचुरता से उल्लेख करते हैं कि उत्तर भारत के दो गलियारों से होकर दक्खन के साथ सम्पर्क कायम थे : एक पूर्वी मध्य प्रदेश व उड़ीसा से होकर तथा दूसरा मालवा क्षेत्र से होकर। समुद्रगुप्त (लगभग 335-75 ईसवी) का प्रसिद्ध दक्षिणापथ (दक्खन) आक्रमण प्रथम मार्ग से होकर पूर्वी दक्खन में प्रविष्ट हुआ प्रतीत होता है; पूर्वी और पश्चिमी मालवा से होकर ही उसका पुत्र और उत्तराधिकारी चन्द्रगुप्त द्वितीय चौथी शताब्दी के उत्तरार्द्ध और पाँचवीं शताब्दी ईसवी में पश्चिमी भारत के शक शासकों को पराजित करने के उद्देश्य से गुजरात पहुँचा था। महरौली लौह-स्तंभ अभिलेख (पुरालिपिशास्त्र के अनुसार यह गुप्तकाल का है) के राजा चन्द्र को सिंधु नदी के सात मुखों को पार कर बहलिका (बल्लू; वर्तमान मज़ार-ए शरीफ़, अफ़ग़ानिस्तान) पहुँचने का श्रेय दिया जाता है। यह सिंधु डेल्टा और उत्तर-पूर्वी

अफगानिस्तान के मध्य संबंधों को दर्शाता है। उत्तर-पश्चिमी क्षेत्रों से होकर जाने वाले स्थल मार्ग विशेष रूप से कम्बोज से आने वाले उत्कृष्ट जंगी घोड़ों की आपूर्ति हेतु महत्त्वपूर्ण थे। पश्चिम एशियाई मूल के यवन या व्यापारी, कालिदास के अनुसार, उत्तर भारत के मैदानी क्षेत्रों में इस मार्ग से ही उम्दा घोड़ों को लाए (अश्ववणिकेन यवनेन)।

14.3.5 लंबी दूरी का समुद्री व्यापार

विचाराधीन अवधि के दौरान लंबी दूरी के समुद्री व्यापार संबंधी हमारी जानकारी पूर्व शताब्दियों हेतु उपलब्ध जानकारी की अपेक्षा कम है। उस काल में भारत और रोमन साम्राज्य के बीच, विशेषतः लाल सागर के व्यापार-तंत्र से होकर, अति महत्त्वपूर्ण वाणिज्यिक सम्पर्क थे। चौथी शताब्दी ईसवी की समाप्ति पर आते-आते रोमन साम्राज्य तथा हिन्द महासागर के पश्चिमी क्षेत्र के साथ व्यापार का क्रमिक ह्रास दिखाई पड़ता है। परंतु, दक्षिण भारत से प्राप्त मुद्रा भण्डारों (coin-hoards) में बाइजेंतीनी सम्राटों के सिक्के पाये गए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि गुजरात के बंदरगाह, जो सासानिद शासकों के अधीन ईरान के साथ मुख्य संचार प्रदान करते थे, फारस की खाड़ी में व्यापार हेतु महत्त्वपूर्ण रहे होंगे। कांसमस इंदीकॉप्लेयूस्तेस कृत क्रिश्चियन टोपोग्राफी में बेरीगाजा के बंदरगाह संबंधी छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध के विवरणों से यह बात प्रमाणित होती है। तटीय गुजरात से लेकर दक्षिण-पश्चिमी ईरान के किर्मन तट तक लाल मिट्टी के बर्तनों का वितरण ईरानी समुद्रतट के प्रवेश द्वार के साथ उत्तर-पश्चिमी समुद्रतटवर्ती प्रदेशों के समुद्री संपर्कों की जोरदार वकालत करता है। समुद्रतटीय कार्यकलाप बंगाल की खाड़ी में अधिक सक्रिय थे, जो दक्षिण-पूर्व एशिया के साथ वाणिज्यिक और सांस्कृतिक सम्पर्कों में सहायक हुआ। भू-स्थल से घिरे गंगा के मैदानों को समुद्र से जोड़ने के एक निर्गममार्ग के रूप में बंगाल डेल्टा महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता था। 414 ईसवी में फाह्यान श्रीलंका जाने के लिए तैयार एक व्यापारिक बेड़े में ताम्रलिप्त के प्रसिद्ध बंदरगाह से चढ़ा। यह यात्रा-वृत्तांत स्पष्ट रूप से दर्शाता है कि यह एक समुद्र-यात्रा थी जो किसी तटीय-यात्रा से भिन्न थी और जिसमें उत्तर-पूर्वी मानसूनी हवाओं से मदद मिली थी। श्रीलंका से यह चीनी तीर्थयात्री दक्षिण-पूर्वी एशिया में जावा की ओर बढ़ा और अन्ततः चीनी तट पर जा पहुँचा। बंगाल तट के समुद्री संपर्कों का सर्वश्रेष्ठ चित्रण मलाय प्रायद्वीप में बुद्धगुप्त नामक एक महानाविक (जहाज़ी-प्रमुख) की उपस्थिति में मिलता है। मलाय प्रायद्वीप से ही प्राप्त एक छठी-शताब्दी के अभिलेख में उल्लेख है कि बुद्धगुप्त रक्तमृत्तिका का निवासी था (रक्तमृत्तिकावासिक), जो सामान्यतः मुर्शिदाबाद ज़िला, पश्चिम बंगाल में स्थित था। गंगा समेत अनेक नदियों के साथ बंगाल डेल्टा बंगाल की खाड़ी तक पहुँचने के लिए विशेष रूप से उपयुक्त था। यही कारण है कि बंगलादेश से प्राप्त दो छठी-शताब्दी के अभिलेखों में एक जहाज़-निर्माण क्षेत्र (नावतश्रेणी) और व्यापार की देखरेख करते एक अधिकारी (व्यापारकरण्य) का उल्लेख किया गया है। बंगाल में एक केन्द्रीय डेल्टा क्षेत्र का नाम नव्यवाकसिका (नई नहर या नदी मुख) था, जो प्राक्समुद्र के साथ जुड़ा था। प्राक्समुद्र शब्द या तो यह संकेत करता है कि नव्यवाकसिका का प्रशासनिक क्षेत्र समुद्र तक पहुँचता था या फिर पूर्वी (प्राक्) सागर (समुद्र) एक नदी से मिलने वाली नहर के माध्यम से डेल्टा क्षेत्र से अभिगम्य था। इस क्षेत्र में निस्सदेह रूप से प्रमुख बंदरगाह ताम्रलिप्त था, जिसको बंगाल में ह्वेनसाँग के यात्रा-वृत्तांत में प्रमुखता से स्थान दिया गया है। ह्वेनसाँग ने सन-मो-ता-टा अथवा समतट के महत्त्व को भी इंगित किया है जिसने दक्षिण-पूर्वी एशिया की मुख्यभूमि में छह क्षेत्रों के साथ समुद्रतटीय संपर्क कायम किए।

14.3.6 सिक्का ढलाई

तीन दशकों के दौरान उत्तर-भारत में व्यापार का एक महत्त्वपूर्ण सूचक सिक्कों से प्राप्त होता है। भारतीय इतिहास में महान् गुप्तवंश की लगभग दो शताब्दियों तक उत्कृष्ट स्वर्ण सिक्कों की

ढलाई के लिए सराहना की जाती थी। उत्कृष्ट रूप से ढले इन गुप्तकालीन स्वर्ण सिक्कों को समकालीन अभिलेखों में शुरू-शुरू में *दीनारों* के रूप में जाना गया और फिर *सुवर्णों* के रूप में। वे 124 अनाज के दानों (ग्रेन) की एक मानक भार इकाई (माप तकनीकी) पर ढाले जाते थे; दूसरे शब्दों में, गुप्तवंश ने संभवतः कुषाण-कालीन स्वर्ण सिक्कों की माप तकनीकी को कायम रखा। कुमारगुप्त (414-54 ईसवी) 8 शासनकाल में ही ऐसा हुआ कि एक गुरुतर धात्विक मानक पर गुप्तकालीन स्वर्ण सिक्कों को ढालने के प्रथम प्रयास किए गए। कुमारगुप्त के कुछ सिक्कों का भार 132 ग्रेन था। गुप्तकालीन स्वर्ण सिक्कों हेतु 144 ग्रेन मानक के गुरुतर *सुवर्ण* सिक्कों की ढलाई स्कंदगुप्त (455-67 ईसवी) के शासनकाल में शुरू हुई। यद्यपि गुप्तकालीन स्वर्ण सिक्कों की छपाई एक गुरुतर मानक भार पर शुरू हो गई थी, स्वर्ण सिक्कों की धात्विक शुद्धता कायम रख पाना दुष्कर था, खासकर 500 ईसवी के पश्चात्। वस्तुतः एक विशिष्ट संभावना है कि महान् गुप्तवंश के बाद के शासकों के *सुवर्ण* मानक स्वर्ण सिक्कों में मिलावट का अंश हो। यह बात साम्राज्य के भीतर आर्थिक कठिनाइयों के काल की जोरदार तजवीज करती है। स्कंदगुप्त (लगभग 455-467 ईसवी) के शासनकाल में और छठी शताब्दी ईसवी के प्रथम चतुर्थांश में, उत्तर भारत में लंबी दूरी का व्यापार हूणों के आक्रमण से बाधित रहा हो सकता है। अनेक शासकों ने जो गुप्तवंश की प्रभुसत्ता को चुनौती दिए जाने के प्रतीक स्वरूप स्वयं सिक्के जारी करना शुरू किया। वे प्रायः गुप्तकालीन स्वर्ण सिक्कों के मानक भार और बनावट एवं सिक्कों पर उत्कीर्ण वाक्यांश (legend) की नकल किया करते **if**; परन्तु इन स्वर्ण सिक्कों में अधिकांशतः मिलावट का अंश होता था, कभी-कभी तो मात्र 37% स्वर्ण अंश के साथ ही। ऐसा असंभव है कि *सुवर्ण* मानक भार (144 ग्रेन) के ये स्वर्ण सिक्के समुचित यथार्थ मूल्य रखते हों और छठी शताब्दी ईसवी के उत्तरार्द्ध में लंबी दूरी के व्यापार के लिए शायद ही उपयुक्त थे।

गुप्तकालीन चाँदी के सिक्कों की ढलाई पाँचवीं शताब्दी ईसवी के प्रारंभिक भाग में पश्चिमी क्षत्रप शासकों द्वारा गुजरात क्षेत्र की विजय के साथ शुरू हुई। गुप्तकालीन चाँदी के सिक्कों की ढलाई ने शासकों के चाँदी के सिक्कों की ढलाई का मानक भार ही अपनाया और 32 रत्ती या 57.6 ग्रेन वाले लम्बे समय से चले आ रहे देशज *कर्षण* (चाँदी का सिक्का) को आधार नहीं माना। उत्तरी बंगाल से प्राप्त पाँचवीं शताब्दी के एक ताम्रपत्र से स्पष्ट होता है कि गुप्तकालीन चाँदी के सिक्के को *रूपक* के नाम से जाना जाता था। गुप्तकालीन स्वर्ण और चाँदी के सिक्कों के बीच 1:16 का अनुपात था। बहुमूल्य धातुओं के बने ये सिक्के कम से कम 500 ईसवी तक उत्तर भारत में लंबी दूरी के व्यापार सहित समृद्ध व्यापार की कहानी कहते हैं, जिसके बाद उत्तर भारत में लंबी दूरी के स्थलमार्गीय व्यापार में मंदी को पूरी तरह नकारा नहीं जा सकता है।

14.3.7 शहरी केन्द्र

राजनीतिक-प्रशासनिक केन्द्रों, व्यापार केन्द्रों और सांस्कृतिक केन्द्रों के रूप में शहरी केन्द्र इस काल में साहित्यिक स्रोतों में दृष्टिगत होते हैं, विशेष रूप से कालिदास की महान् कृतियों में। संस्कृत स्रोत और अभिलेख पुरों और नगरों के संदर्भों से भरे पड़े हैं। प्रसिद्ध शब्दकोश, *अमरकोश*, शहरी केन्द्रों का संकेत करने के लिए *पुर*, *नगर* और *पुटभेदन*, आदि शब्दों का प्रयोग अदल-बदल कर किए जा सकने वाले दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं। *पुटभेदन* शब्द, जैसा कि पहले भी वर्णन किया जा चुका है, का अर्थ है एक प्रकार का व्यापार केन्द्र। शहरों को इंगित करते शब्दों में इस शब्द के सम्मिलन का अर्थ है कि कम से कम कुछ बड़े व्यापार केन्द्रों ने तो शहरी आकार ले ही लिया था। एक अन्य सुप्रसिद्ध तकनीकी ग्रंथ, वात्स्यायन के *कामसूत्र* की विषयवस्तु के केन्द्र में शहर में पले-बढ़े आदमी (*नगरका*) हैं। सजीव शहरी जीवन की छाप गुप्तकाल के चार भाग या एक-पात्र अभिनीत नाटकों में भी देखी जा सकती है। दूसरी ओर, फाह्यान और ह्वेनसाँग यह आभास देते हैं कि उत्तर भारत के अनेक प्रसिद्ध और प्राचीन शहरों

ने तत्कालीन समृद्धि और गौरव को खो दिया था और पतन की ओर जा रहे थे। इसमें उत्तर भारत के उन शहरी केन्द्रों संबंधी पुरातात्विक जानकारी भी जोड़ी गई है जिनमें कई केन्द्र दरिद्रता के चिह्न दर्शाते हैं। श्रावस्ती, मथुरा, अतरंजीखेड़ा, खैरादिह (उत्तर प्रदेश), राजगृह, वैशाली (बिहार), और चम्पा जैसे शहरों की मानो बहार जा चुकी थी। यह सत्य है कि वाराणसी और उज्जैयिनी महत्त्वपूर्ण शहरी केन्द्र बने रहे। उत्तर बंगाल के महस्थानगढ़ और बंगढ़ में भी शहरी स्तर में ह्रास का कोई बड़ा चिह्न नहीं दिखाई पड़ता। परन्तु आमतौर पर गुप्तकाल (300-600 ईसवी) संबंधी पुरातात्विक अवशेष शक-कुषाण-सातवाहन काल (लगभग 200 ई.पू.-300 ईसवी) के शहरों के पुरातात्विक अवशेषों जितने समृद्ध नहीं हैं। अनेक विद्वानों ने गुप्तकाल में शहरी केन्द्रों के पतन का उत्तरदायित्व रोमन साम्राज्य के साथ भारत के लंबी दूरी के व्यापार में कमी को और उत्तर भारत में स्थल मार्गों पर हूणों के आक्रमणों से पड़ने वाले प्रतिकूल प्रभावों को दिया है। गुप्त और उत्तर-गुप्तकाल में व्यापार में गिरावट और शहरी केन्द्रों का पतन संबंधी इस धारणा ने विद्वानों के मध्य उल्लेखनीय विवाद को जन्म दिया है। इस समस्या पर आगामी भाग में विस्तारपूर्वक चर्चा की जाएगी। (विस्तृत विवरण के लिए देखें हमारा पाठ्यक्रम ई.एच.आई.-03, खंड 1, इकाई 2)।

14.4 व्यापार, बाजार एवं शहरी केन्द्र : 650-1300 ईसवी

हाल के वर्षों में इन साढ़े छह शताब्दियों संबंधी अध्ययनों ने इतिहासकारों के बीच महत्त्वपूर्ण वाद-विवाद को जन्म दिया है। विचाराधीन काल बीसवीं शताब्दी के तीसवें मध्य-दशक से ही इतिहासकारों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करने लगा था, हालाँकि शुरू-शुरू में स्पष्ट रूप से विद्वानों ने राजवंशीय-इतिहास हेतु अपनी पसंद दर्शायी। राजनीतिक रूप से, उत्तर भारत और संपूर्ण उपमहाद्वीप पर राजतंत्रीय सत्ताओं का वर्चस्व था। परन्तु 600 ईसवी पूर्व की सत्ताओं से भिन्न, इनमें से किसी भी सत्ता को उत्तर भारत, दक्खन अथवा सुदूर दक्षिण पर सर्वोच्चता प्राप्त नहीं थी। राजनीतिक परिदृश्य की प्रमुख विशेषता अनेक शक्तिसम्पन्न क्षेत्रीय सत्ताओं तथा स्थानीय सत्ताओं की विद्यमानता है। राजनीतिक-प्रशासनिक परिवेश का एक अन्य उल्लेखनीय लक्षण विभिन्न कोटियों एवं श्रेणी के सामन्तों की विद्यमानता है। यह राजनीतिक परिदृश्य पूर्व शताब्दियों की अपेक्षा कहीं अधिक जटिल है। हाल के वर्षों में विद्वान राजवंशीय इतिहास का वर्णन प्रस्तुत करने की बजाय क्षेत्रीय राज्य-व्यवस्थाओं के उदय एवं एकीकरण की प्रक्रियाओं को स्पष्ट करने में अधिक रूचि रखते हैं। इन सभी शासकों ने बहुत से भू-अनुदान जारी किए जो न सिर्फ राजनीतिक जीवन अपितु सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक इतिहास हेतु जानकारी का प्रमुख स्रोत प्रदान करते हैं।

14.4.1 शहरों के पतन पर विवाद – पतन के पक्ष में तर्क

जैसा कि हमने पहले भी संकेत किया, भू-अनुदान प्रारंभिक मध्यकालीन ग्रामीण समाज और अर्थव्यवस्था पर अत्यधिक मूल्यवान आँकड़े प्रदान करते हैं। परन्तु इन अनुदानों की प्रकृति एवं उद्देश्य शहरी केन्द्रों में शिल्पकारों और व्यापारियों के कार्यकलापों को लिपिबद्ध करने में शायद ही कोई कसर छोड़ता है। उत्तर भारत समेत संपूर्ण उपमहाद्वीप में 600 ईसवी से ही ताम्रपत्र चार्टरों की प्रचुरता शायद ही किसी की दृष्टि से चूके। ऐसे अनुदानों में अर्थव्यवस्था के गैर-कृषि क्षेत्र संबंधी जानकारी अपेक्षाकृत रूप से दुर्लभ है। यह 600 ईसवी से पूर्व के अनुदान संबंधी अभिलेखों एवं प्रशासनिक दस्तावेजों के नितान्त विपरीत है जहाँ व्यापारियों, शिल्पियों एवं विभिन्न व्यावसायिक समूहों का उल्लेख प्रमुखता से किया गया है। बहुत से विद्वानों का तर्क है कि दस्तावेजों एवं दस्तावेजों के लेखन के तरीकों में बदलाव दरअसल तत्कालीन सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में परिवर्तनों का सूचक है। भू-अनुदानों की विशाल संख्या का अर्थ, उनके अनुसार, 600/650 ईसवी के बाद से अर्थव्यवस्था का सशक्त ग्रामीणीकरण ही है। ऐसे बदलते

भौतिक परिवेश में शिल्पियों, व्यापारियों एवं शहरी केन्द्रों की प्रासंगिकता कम हो गई प्रतीत होती है। यह तर्क दिया जाता है कि चौथी शताब्दी के पश्चात् रोमन साम्राज्य के साथ भारत के फलते-फूलते और सक्रिय व्यापार में हास ने भारत की वाणिज्यिक अर्थव्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव डाला। 600-1000 ईसवी के दौरान लंबी दूरी के व्यापार में भारत की कोई सार्थक भागीदारी नहीं दिखाई देती, और परिणामस्वरूप एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-तंत्र में वस्तुओं के शिल्प-उत्पादन और उनके विनिमय हेतु कम ही ललक रह गई थी। अतः इसका अर्थ हुआ कि भारत का लंबी दूरी का व्यापार विशेष रूप से फैलते अरब व्यापार-तंत्र के साथ व्यापार में वृद्धि की वजह से ही 1000 ईसवी के बाद पुनर्जीवित हुआ। पुरालेखीय सामग्रियों से प्राप्त आँकड़ों में साहित्यिक स्रोतों, खासकर पुराणों से जानकारी संवर्धित और संपूरित की गई है। प्रमुख पुराणों, जिन्होंने ऐसा प्रतीत होता है कि चौथी/पाँचवीं शताब्दी ईसवी के आसपास ही अपना वर्तमान आकार ग्रहण किया, के गहन अनुशीलन ने अनेक विद्वानों को इस निष्कर्ष की ओर प्रवृत्त किया कि पौराणिक वृत्तांत सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक दशाओं में तेजी से बदलाव को ही इंगित करते हैं। ये विद्वान पाँचवीं शताब्दी के बाद से सामाजिक-आर्थिक एवं राजनीतिक परिवेश में महत्वपूर्ण संकटों को महसूस करते हैं। कलियुग में व्यापारियों की दरिद्रतापूर्ण दशाओं के पौराणिक वृत्तांतों की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है, जो भारतीय विचारधारा में चार युगों वाली पारंपरिक व्यवस्था में सबसे बुरा युग माना गया है। बृहन्नारदीय पुराण के अनुसार व्यापारी कलियुग में नौकरों (कर्मोपजीविन) और धान कुटाई करने वालों (तंदुलकरीन) की स्थिति में पहुँच गए थे। 600 ईसवी से 1000 ईसवी के दौरान उत्तर भारत में उपलब्ध अभिलेखों में केवल मुट्ठीभर व्यापारियों का ही स्पष्ट वर्णन है। ताम्रलिप्त, न सिर्फ बंगाल का प्रमुख बन्दरगाह था, बल्कि भू-क्षेत्र से घिरे गंगा घाटी का बन्दरगाह भी, आठवीं शताब्दी में लुप्तप्राय हो गया। इसका मुख्य कारण उस नदी में गाद का जमाव था जिस पर वह स्थित था। ताम्रलिप्त का अंतिम विदित पुरालेखीय संदर्भ बिहार के हजारीबाग क्षेत्र से प्राप्त एक आठवीं-शताब्दी के अभिलेख में मिलता है। सिन्धु नदी के डेल्टा में बारबैरीकुम बंदरगाह को प्रारंभिक मध्यकाल में आर्थिक रूप से कोई प्रधानता प्राप्त नहीं थी। इसी क्षेत्र में दैबुल बंदरगाह दसवीं शताब्दी के पश्चात् एक अन्तर्राष्ट्रीय बंदरगाह के रूप में प्रकाश में आया। इसी प्रकार, गुजरात में प्रमुख बंदरगाह, बेरीगाजा या भड़ौच, का पूर्वकालीन गौरव समाप्त हो चुका था। इन तीन बंदरगाहों के लुप्त होने से ही उत्तर भारत के लंबी दूरी के समुद्री व्यापार पर प्रतिकूल असर पड़ा होगा। प्रारंभिक मध्यकालीन उत्तर भारत के आर्थिक जीवन में व्यापार और व्यापारियों के क्रमिक हास को दर्शाने के लिए इन सबका ही उदाहरण लिया गया है।

प्रारंभिक मध्यकाल में व्यापार में गिरावट संबंधी उपर्युक्त वर्णन की बहुमूल्य धातुओं से बने सिक्कों के अभाव से पुष्टि होती है। प्रारंभिक मध्यकालीन तीन उत्कृष्ट क्षेत्रीय सत्ताओं, बंगाल व बिहार के पालवंश और सेनवंश (लगभग 750-1200 ईसवी) तथा दक्खन के राष्ट्रकूटों (लगभग 754-974 ईसवी), ने कोई सिक्के ही जारी नहीं किए। एक अन्य प्रमुख सत्ता, कन्नौज और पश्चिमी भारत के गुर्जर-प्रतिहारों, ने चाँदी के सिक्के तो ढाले परन्तु वे अविश्वसनीय मानक भार एवं धात्विक शुद्धता वाले थे। अपने अंकित मूल्य से मेल न खाते हुए अपने सदेहास्पद यथार्थ मूल्य के कारण लंबी दूरी के व्यापार में विनिमय के विश्वसनीय धात्विक माध्यम के रूप में ऐसे सिक्के अनुपयुक्त ही रहे होंगे। इस मौद्रिक दशा के पतन का एक उल्लेखनीय अपवाद पंजाब और उत्तर-पश्चिमी भारत के शाही शासकों द्वारा उत्कृष्ट सिक्कों के निर्गमन में दिखाई देता है। इस बात पर जोर दिया गया है कि उत्तर-पश्चिमी भारत के शाही शासकों के अधीन इस क्षेत्र से कोई भी ताम्रपत्र प्राप्त नहीं हुआ है। अतः कुछ विद्वान इस बात पर जोर देना चाहेंगे कि मुद्रा-अर्थव्यवस्था और भू-अनुदान अर्थव्यवस्था परस्पर असंगत थीं।

गंगा घाटी और विशेष रूप से बंगाल से प्राप्त अनेक ताम्रपत्र अनुदानों में पूरण, धारण और द्रम्म जैसे मुद्रा के लिए प्रयुक्त शब्द आवसरिक रूप से मिलते हैं। यद्यपि मुद्रा संबंधी ये शब्द

विदित थे, ऐसे सिक्कों के कोई असल नमूने पालवंश और सेनवंश के राज्यों से नहीं मिले हैं। दूसरी ओर, बड़ी संख्या में ताम्रपत्र प्रायः कपर्दकों या कौड़ियों का उल्लेख करते हैं। कपर्दक-पूरण उक्ति भी इन ताम्रपत्रों में नज़र आती है। पूरण शब्द किसी विशेष प्रकार के सिक्के की ओर इशारा नहीं करता, अपितु कौड़ियों की एक पूरण अथवा एक चाँदी सिक्के के रूप में समानता प्रस्तुत करता है। प्रारंभिक मध्यकालीन पूर्वी भारत की परंपरागत अंकगणितीय तालिकाएँ दर्शाती हैं कि एक चाँदी के सिक्के और कौड़ी के बीच संख्या अनुपात 1:1280 था। दूसरे शब्दों में, 1280 कौड़ियाँ एक चाँदी के सिक्के के बराबर थीं। प्रारंभिक मध्यकालीन अभिलेखों में कपर्दक-पूरण उक्ति का व्यापक प्रयोग, जिसका उल्लेख आठवीं शताब्दी से पूर्व नहीं मिलता, यह तजवीज कर सकता है कि कौड़ी विनिमय का प्रमुख माध्यम थी। ऐसा प्रतीत होता है कि कौड़ियों ने विनिमय के धात्विक माध्यम का स्थान ले लिया जिसने अपने अविश्वसनीय यथार्थ मूल्य के कारण अपनी प्रासंगिकता खो दी थी। पूर्वी बिहार में भागलपुर के निकट कोलगाँव में हुए उत्खनन में बड़ी संख्या में कौड़ियाँ प्राप्त हुई हैं, जिनसे विनिमय के एक माध्यम रूप में उनके नियमित वितरण का भौतिक प्रमाण मिलता है। इस बात पर जोर दिया गया है कि कौड़ियाँ धात्विक मुद्रा हेतु मात्र एक तुच्छ और अपर्याप्त विकल्प ही रही हो सकती हैं। कौड़ियों का विशाल परिमाण लाने-ले जाने में लाभ की बजाय परेशानियाँ ही ज़्यादा पैदा करता होगा; दूसरे शब्दों में, कौड़ियों को लंबी दूरी के व्यापार हेतु अनुपयुक्त ही माना जाता है। इनका सर्वोत्तम प्रयोग स्थानीय स्तर के व्यापार के लिए ही हो सकता था और वे 'दूरवर्ती व्यापार के अवरोधक' थे। अतः अनुमानित मुद्रा के रूप में कौड़ियों के व्यापक प्रचलन की व्याख्या लंबी दूरी के व्यापार के पतन संबंधी एक और पक्के सबूत बतौर की जाती है। तत्कालीन समृद्ध व्यापार अर्थव्यवस्था को बाधित करती 'मौद्रिक अशक्तता' ('monetary anaemia') की अवधारणा अनेक ऐतिहासिक शोधों में प्रबलता से विद्यमान है।

व्यापार में गिरावट और धात्विक मुद्रा का सापेक्ष अभाव विनिमय के लिए वस्तुओं के बड़े पैमाने पर उत्पादन में सहायक नहीं थे। इसका परिणाम न सिर्फ कृषि पर अत्यधिक निर्भरता था, बल्कि इससे एक आत्म-निर्भर ग्राम अर्थव्यवस्था का उदय भी हुआ। यह तर्क दिया जाता है कि गाँवों की सभी ज़रूरतें गाँवों में ही उत्पन्न और सुलभ हुआ करती थीं, जिससे बाहरी वस्तुओं के लाने-ले-जाने की आवश्यकता कम ही होती थी। व्यापार के सापेक्ष अभाव ने आत्मनिर्भर गाँवों को जन्म दिया जो अवरुद्ध और गतिहीन (closed and stagnant) थे। टंकित मुद्रा के अभाव से शासकों के सामने अपने राजकर्मियों को वेतन, आदि देने में गंभीर समस्याएँ आयी होंगी। ऐसे हालातों में शासक को नकद के बदले अपने राजकर्मियों को भूमि सौंपे जाने का सहारा लेना पड़ा होगा। इससे धार्मिक व्यक्तियों एवं संस्थाओं हेतु भू-अनुदानों के अलावा धर्मनिरपेक्ष भू-अनुदान देने की प्रथा को भी बल मिला होगा। सेवा पट्टे (service tenure) अथवा धर्मनिरपेक्ष भू-अनुदानों ने राजकीय राजकोष को और भी क्षीण कर दिया तथा इससे केन्द्रीय सत्ता को क्षति पहुँची। व्यापार के अभाव और विनिमय के धात्विक माध्यम की अल्पता के कारण प्रारंभिक मध्यकालीन उत्तर भारत में अनिवार्यतः एक आत्मनिर्भर और अवरुद्ध ग्राम अर्थव्यवस्था का जन्म हुआ। वाणिज्य के ह्रास एवं 'मौद्रिक अशक्तता' के प्रतिकूल प्रभाव इस प्रकार आर्थिक जीवन तक सीमित नहीं रहे, बल्कि उन्होंने एक विकेन्द्रीकृत राज्य-व्यवस्था और खंडीय संप्रभुता का मार्ग भी प्रशस्त किया। भारतीय सामन्तवाद के पक्षधरों का मानना है कि वाणिज्य का ह्रास धात्विक मुद्रा के अत्यधिक अभाव के रूप में परिणत हुआ। इसके परिणामस्वरूप राजकीय कर्मचारियों को नकद भुगतान संबंधी भारी दिक्कतों की शुरुआत हुई; इस स्थिति का परिणाम था कि नकद के बदले उच्चाधिकारियों को सेवा-पट्टे (बाद की जागीर की भाँति) देने की प्रथा प्रारम्भ हुई। आने वाले समय में इन शक्तिशाली कर्मचारियों ने न सिर्फ उन आबंटित क्षेत्रों से अत्यधिक धन-सम्पत्ति संचित की, अपितु वे स्थानीय रूप से शक्तिसम्पन्न भी हो गए। इसने शासक की सत्ता, जो शीर्ष राजनैतिक सत्ता थी, को और अधिक नुकसान पहुँचाया। दूसरे शब्दों में, इन सामंतों और मातहतों की कीमत पर धीरे-धीरे शासक के अपने आर्थिक एवं

राजनीतिक विशेषाधिकारों में उल्लेखनीय कमी आई। अर्थव्यवस्था और राज्य-व्यवस्था की ये दशाएँ प्रारम्भिक मध्यकाल में भारत में सामन्तवाद की उत्पत्ति एवं दृढीकरण में परिणत हुईं।

चूँकि यह अर्थव्यवस्था, जो सामन्तवादी अर्थव्यवस्था के रूप में जानी जाती है, ग्राम्यवाद में अत्यधिक लिप्त थी और जिसमें व्यापार की बहुत कम गुंजाइश थी, माना जाता है कि यह शहरी विकास में शायद ही सहायक थी। प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल के शहरी केन्द्रों संबंधी पुरातात्विक आँकड़ों के प्राचुर्य की स्पष्ट तुलना में, प्रारम्भिक मध्यकालीय शहरों के विषय में उत्खनन एवं अन्वेषण से प्राप्त जानकारी काफी अपर्याप्त है। अनेक पूर्वकालीन शहरी केन्द्र अपने भौतिक परिवेश के ह्रास, अव्यवस्थित विन्यास और पुनर्प्रयुक्त ईंटों के उपयोग संबंधी प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। इनकी व्याख्या 600-1000 ईसवी के दौरान, उत्तर भारत समेत, इस उपमहाद्वीप के वृहत्तर भागों पर अ-शहरीकरण (deurbanisation) के स्पष्ट संकेतों के रूप में की गई है। एक प्राकृत साहित्यिक स्रोत वर्णन करता है कि शहरी केन्द्र गाँवों में बदल गए (नयराणि गमभूयानि होहन्ति)। कहा जाता है कि भारत के वाणिज्य में पतन ने शहरी पतन में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। शहरी क्षेत्र, जो अर्थव्यवस्था के गैर-कृषि क्षेत्र से संबंधित थे, व्यापार केन्द्रों से जुड़े थे, और अनेक शहरी केन्द्र व्यापार एवं वाणिज्य के प्रमुख केन्द्र भी थे। पालवंश, सेनवंश और प्रतिहारवंश संबंधी ताम्रपत्रों के विश्लेषण से पता चलता है कि इनमें नगर एवं पुर जैसे शब्दों के कम ही संदर्भ मिलते हैं। ताम्रपत्र जयस्कंधावरों अथवा विजयी सेना शिवियों के संदर्भों से भरे पड़े हैं। ऐसे जयस्कंधावरों ने राजनीतिक-सामरिक मुख्यालय के रूप में काम करना शुरू कर दिया। यह निष्कर्ष निकाला गया है कि विनिमय एवं शिल्प-उत्पादन क्षेत्रों के रूप में शहरी केन्द्र धीरे-धीरे लुप्त होते गए और उनके स्थान पर सामरिक एवं राजनीतिक केन्द्र नज़र आने लगे। प्रारम्भिक मध्यकालीन उत्तर भारत में अनेक तीर्थाटन (तीर्थ) केन्द्रों का उदय दिखाई देता है जिन्होंने किसी समय धार्मिक केन्द्रों के रूप में शहर का आकार ले लिया। भारतीय सामन्तवाद के पक्षधर इतिहासकारों का तर्क है कि चूँकि शहरी केन्द्रों ने व्यापार क्षेत्रों के रूप में अपनी मुख्य प्रासंगिकता खो दी थी, वे धार्मिक केन्द्र बन गए जिससे वस्तुओं के उत्पादन/निर्माण एवं विनिमय के केन्द्रों के रूप में उनकी भूमिका को मुख्य रूप से क्षति पहुँची। इस प्रकार, प्रारम्भिक मध्यकाल में 'मौद्रिक अशक्तता' के कारण एक 'शहरी अशक्तता' व्याप्त हो गयी। शहरी संकुचन ग्रामीण विस्तारण में परिणत हुआ जिसने प्रारम्भिक मध्यकालीन भारत की सामन्ती अर्थव्यवस्था के भौतिक परिवेश को मजबूती प्रदान की। व्यापार, अथवा अधिक सटीक रूप से व्यापार में गिरावट की धारणा की प्रारम्भिक मध्यकालीन उत्तर भारत की सामन्ती सामाजिक संरचना में एक निर्णायक भूमिका रही है। तीन क्षेत्रों में सामन्ती अर्थव्यवस्था के आदर्श-स्वरूप के लक्षण देखने को मिलते हैं : पालवंश और सेनवंश कालीन बंगाल, गंगा-यमुना दोआब में गुर्जर-प्रतिहार साम्राज्य, तथा दक्खन में राष्ट्रकूट सत्ता।

14.4.2 शहरों के पतन पर विवाद — पतन के विरुद्ध तर्क

प्रारम्भिक मध्यकाल में उत्तर भारत में वाणिज्यिक ह्रास एवं शहरी अर्थव्यवस्था संबंधी उपर्युक्त वर्णन निर्विरोध नहीं रहा। प्रारम्भिक मध्यकालीन भारत में सामन्ती अर्थव्यवस्था की अवधारणा की भी आलोचना की गई है। सामन्ती अर्थव्यवस्था के दृष्टिकोण में अनेक विद्वानों ने तथ्यात्मक अशुद्धियों की ओर ध्यान आकर्षित किया है। पुरातात्विक प्रमाणों सहित अन्य स्रोतों के प्रयोग द्वारा यह दर्शाने का प्रयास किया गया है कि व्यापार का कोई विशेष रूप से पतन नहीं हुआ था और न ही व्यापक रूप से कोई बड़ी अ-शहरीकरण की प्रक्रिया ही दृष्टिगोचर होती है। इस बात में कोई संदेह नहीं कि भू-अनुदानों की प्रथा, जो अकृषित, निर्जन वन अथवा बंजर इलाकों की भूमि के संदर्भ में जारी किए जाते थे, ने अभूतपूर्व ग्रामीण विस्तार का मार्ग प्रशस्त किया। परन्तु क्या कृषक बस्तियों के प्रचुर मात्रा में उद्भव का अर्थ आत्मनिर्भर एवं अवरुद्ध (self-sufficient and enclosed) गाँवों का सुदृढीकरण मात्र है? मानव जीवन की दो अनिवार्य और अपरिहार्य

आवश्यकताएँ, नमक और लोहा, हरेक गाँव में स्थानीय रूप से उपलब्ध नहीं थे। यदि ये वस्तुएँ गैर-स्थानीय स्रोतों से प्राप्त करनी पड़ती थीं तो प्रारंभिक मध्यकालीन गाँवों के आत्मनिर्भर एवं अवरुद्ध स्वरूप संबंधी धारणा पर गंभीर सवाल उठ खड़े हो सकते हैं।

व्यापार, व्यापार-तंत्र एवं शहरीकरण : उत्तर भारत

बाजारों की विद्यमानता

भू-अनुदानों संबंधी गहन अध्ययन दर्शाते हैं कि इन अभिलेखों में बाजार पूरी तरह नदारद नहीं थे, यहाँ तक पूर्व-1000 ईसवी के अभिलेखों में भी। अभिलेख और साहित्यिक स्रोत विभिन्न प्रकार के बाजारों की विद्यमानता को दर्शाते हैं, जिनमें से कुछ 600 ईसवी से पूर्व में अज्ञात थे। इस प्रकार, प्रारंभिक मध्यकाल में उत्तर भारत के अभिलेखों में *हट्ट* या *हट्टिका* शब्द बारंबार नज़र आते हैं। *हट्ट/हट्टिका* शब्द आमतौर पर विनिमय के एक ग्रामीण स्तरीय छोटे केन्द्र को इंगित करता है। यह शब्द आधुनिक शब्द हाट के रूप में आज भी जीवित है, जो बंगाल और बिहार में व्यापक रूप **a** जाना जाता है। ऐसे ग्रामीण बाजार केन्द्रों की प्रकृति आवधिक होती है यहाँ लेन-देन हर रोज नहीं होता, बल्कि सप्ताह में केवल एक या दो बार निर्धारित दिनों में ही होता है। ऐसे ताम्रपत्रों में जो विशेष रूप से ग्रामीण परिवेश में सन्निहित हैं, *हट्ट* और *हट्टिका* जैसे ग्राम स्तरीय बाजार क्षेत्र बहुधा दिखाई पड़ते हैं। इनका ग्रामीण क्षेत्रों में महत्वपूर्ण उल्लेखनीय घटना के रूप में भी ताम्रपत्रों में जिक्र है। *हट्ट* संबंधी ऐसे अनेक पुरालेखीय वर्णन *हट्ट* के निकट ही पेयजल (*प्राप*), विश्रामगृहों (*आराम*), और भोजन गृहों (*सत्तरा*) की उपलब्धता की बात भी कहते हैं। पालकालीन कुछ अभिलेखों में हमें *हट्टवाड़ा* शब्द भी मिलता है। यह संभवत एक ऐसे *हट्ट* का संकेत करता है जो किसी साधारण *हट्ट* के मुकाबले अधिक महत्वपूर्ण या बृहद् होता था। ऐसा एक उदाहरण संभवतः देवपालदेवहट्ट था। यह नालन्दा के प्रसिद्ध मठ और विश्वविद्यालय के नज़दीक ही स्थित था। विख्यात पालवंशी शासक देवपाल (लगभग 810-850 ई.) के नाम पर यह *हट्ट* संभवतः किसी साधारण ग्राम-स्तरीय बाजार के मुकाबले अधिक बड़ा और अधिक प्रसिद्ध था। तत्तानन्दपुरा (अहाड, बुलन्दशहर ज़िला, उत्तर प्रदेश) स्थित सुप्रसिद्ध शहरी बाजार के पूर्वी भाग (*पूर्वहट्टा*) में एक *हट्ट* का अस्तित्व था, यह तथ्य वहाँ से प्राप्त अभिलेखों (नौवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध) के प्रमाणों से स्पष्ट होता है। यह *हट्ट* निश्चय ही कोई ग्राम्यस्तरीय बाजार केन्द्र नहीं था, बल्कि एक बृहद् शहरी व्यापार क्षेत्र के भीतर स्थित था। एक *हट्टमार्ग* अर्थात् किसी बाजार स्थल की ओर ले जाती गली का जिक्र तत्तानन्दपुरा से प्राप्त एक अन्य अभिलेख में पाया जाता है। इस प्रकार *हट्ट* शब्द का अर्थ किसी शहरी क्षेत्र में व्यापार केन्द्र हो सकता था, जो किसी ग्रामीण विनिमय केन्द्र संबंधी उसके अधिक सामान्य अर्थ के अतिरिक्त था। इसी प्रकार का एक *हट्ट* राजस्थान के जोधपुर क्षेत्र में *कक्कुका* द्वारा 861 में पूर्व परित्यक्त स्थल रोहिणीशकुपक में स्थापित किया गया था; इस बाजार केन्द्र में भी व्यापारी जाकर बसे (*हट्ट महाजनश्च स्थापित*)।

प्रारंभिक मध्यकालीन पृथुदक (आधुनिक पेहोवा, करनाल ज़िला, हरियाणा) में नौवीं शताब्दी में एक अश्व-मेला (*घोटक-यात्रा*) लगा। सम्बद्ध अभिलेख पृथुदक में एकत्रित होने वाले अश्व-व्यापारियों के नामों का भी वर्णन करता है। *यात्रा* शब्द का यहाँ अर्थ है - एक मेला या पैठ जिसकी प्रकृति एक बार फिर आवधिक है। ऐसा मुश्किल प्रतीत होता है कि पशु मेले वर्ष भर रोज़ाना आयोजित किए जाते हों। दूसरी ओर, यह निष्कर्ष निकालना तर्कसंगत ही होगा कि ऐसे मेले वर्ष में एक निर्धारित समय पर ही आयोजित किए जाते होंगे, विशेषकर किसी त्यौहार के मौसम में। स्वभावतः आवधिक होते हुए भी *यात्रा* एक *हट्ट* से भिन्न है क्योंकि यह मेला सप्ताह में एक या दो बार नहीं, बल्कि वर्ष में केवल एक बार लगता था। वूली (*wooly*) मवेशियों में लेनदेन हेतु इस प्रकार के वार्षिक मेले का वर्णन राजस्थान में स्थिति कमन में नौवीं-शताब्दी में मिलता है। कमन अभिलेख में इसे *कम्बली-हट्ट* कहा गया है।

अश्व-मेले का वर्णन : पेहोवा अभिलेख

ओ३म्! तत्रमहान्, सर्वोच्च संप्रभु, महाधिपतियों का महाधिपति (और) सर्वोच्च स्वामी, लब्धप्रतिष्ठ भोज जो तत्रमहान्, सर्वोच्च संप्रभु, महाधिपतियों का महाधिपति (और) सर्वोच्च स्वामी, लब्धप्रतिष्ठ रामभद्र के चरणों पर सर झुकाता है, के वर्धमान, मांगलिक एवं जयकारी शासन में, वर्ष दो सौ छियत्तर में, वैशाख मास के शुक्ल पक्ष की सातवीं तिथि (चान्द्र दिवस), (अंकों में) सम्बत् 276 वैशाख सुदि. 7 को - उपर्युक्त वर्ष, मास और (नागरिक) दिवस (उल्लिखित) के अनुसार निर्दिष्ट इस चान्द्र दिवस को यहाँ पिशाचीचतुर्दशी पर लगे अश्व-मेले में पृथुदक के प्रसिद्ध नगर में यहाँ एकत्र चतुर्दशिक के (निम्नलिखित) निवासी, भट्ट वीरका के पुत्र वंदा एवं राज्यवल तथा वल्लुका; इसी प्रकार रेणुका का पुत्र राज्यसीह; उत्पलिका के (निम्नलिखित) निवासी, भल्लुक का पुत्र मंगक, चीन्हा का पुत्र चोणरक; इसी प्रकार चिक्करीसेलवणपुर के (निम्नलिखित) निवासी, दादा का पुत्र कल्लुक, उसका बेटा जयरक, विष्णु का बेटा आदित्यरक, रज्जुक के पुत्र चीन्हा और रंगक, कल्लुक का पुत्र वामुक; वलदेवपुर (बलदेवपुर) के (निम्नलिखित) निवासी, खम्भाटा का पुत्र होब्बा, मृगक का पुत्र विददक, केशव का पुत्र धनुक, खंगक का पुत्र वामुक, माणिक का पुत्र उण्हरि; सारंकदिक के (निम्नलिखित) निवासी, नार के पुत्र लोहत (या लाहत) एवं शंकर, वालुक का पुत्र ईश्वरादित्य; सिंहदुक्काक के (निम्नलिखित) निवासी, उल्लक का पुत्र वच्छक, जयधरक का पुत्र रणिक, सुर का पुत्र प्राद; त्रैघटक के (निम्नलिखित) निवासी, धरत का पुत्र चन्द, एकगोरक का पुत्र सव्व, देवशर्मण का पुत्र फम्फा, वागुक का पुत्र काम्मिक; घमधाक के (निम्नलिखित) निवासी, लल्लिका का पुत्र स्वामिरक, सिंघुक का पुत्र सि[हा],, दामोदर का पुत्र पोम्फा, हल्लुक का पुत्र दव्वु, ... कसीली, मना का पुत्र खज्जी; अस्वल-उहोवक का (निम्नलिखित) निवासी, उसूहा का पुत्र वद्धा। ... व्यापारियों का सरदार, विभिन्न देशों से आते हैं, जिनमें प्रमुख वे हैं जिनका जिक्र ऊपर किया गया है, प्रसिद्ध पृथुदक के पवित्र स्थल को अनुदान हेतु निम्नलिखित चार्टर (जारी किया) : प्रसिद्ध कान्यकुब्ज में लब्धप्रतिष्ठ गुहादित्य द्वारा बनवाए गए देवता (के मंदिर) हेतु, और गीतीर्थ में भी कदम्बादित्य द्वारा बनवाए गए देवता (के मंदिर) हेतु, तथा प्रसिद्ध कान्यकुब्ज के निकट प्रसिद्ध भोजपुर में गंगा के तट पर नगर भट्ट प्रभाकर के पुत्र भुवक द्वारा बनवाए गए गरुड़ पर सवार देवता (के मंदिर) हेतु, और पूर्वी सरस्वती के निकट प्रसिद्ध पृथुदक में उसी भुवक द्वारा बनवाए गए यज्ञीय-वराह (के मंदिर) हेतु, हमने अश्वों, घोड़ियों, खच्चरों व अन्य पशुओं की बिक्री की अनुमति दी है - पृथुदक में राजा द्वारा खरीद की स्थिति में, साथ ही प्रांत-वासी ठाकुरों द्वारा खरीद की स्थिति में और इसके पश्चात्, त्रैघटक व अन्य धार्मिक स्थलों में केवल राजा द्वारा खरीद की स्थिति में - आत्मिक पुण्य हेतु प्रत्येक पशु पर दो धर्मा, बतौर शाश्वत धार्मिक अनुदान; और उसको चौबीस भागों में बाँटकर, हमने लब्धप्रतिष्ठ गुहादित्य द्वारा बनवाए गए देवता (के मंदिर) हेतु सात भाग अर्पित किए हैं, और सात(ही) भाग कदम्बादित्य द्वारा बनवाए गए देवता (के मंदिर) हेतु, और सात(ही) भाग उसके (मंदिर के) लिए जो गरुड़ पर सवारी करता है, और एक भाग पृथुदक में भुवक द्वारा बनवाए गए यज्ञीय-वराह (के मंदिर) हेतु, और एक(ही) भाग यज्ञीय-वराह के मंदिर के पुजारी हेतु, और (अन्तिम) एक भाग पृथुदक के पवित्र स्थल हेतु (अर्पित किए हैं); इसके अतिरिक्त हमने बारह भाग और अर्पित किए हैं जिनमें अश्वों के क्रेताओं द्वारा प्रत्येक अश्व हेतु प्रदत्त एक धर्मा को बाँटा गया है, [छह] भाग पूर्वी सरस्वती के निकट पृथुदक में भुवक द्वारा बनवाए गए यज्ञीय-वराह (के मंदिर) हेतु और इस मंदिर के पुजारी हेतु दो भाग, और प्रसिद्ध पृथुदक में पवित्र स्थान हेतु चार भाग। यह अश्वों के विक्रेताओं और क्रेताओं (दोनों) द्वारा [मान्य होना चाहिए], (और) सदाचारी गोष्ठियों को तब तक जब तक सूर्य और चन्द्रमा विद्यमान रहें, ऊपर लिखे गए नियमों के अनुसार, स्वयं की ओर से और दूसरों के वास्ते तदनुसार ही व्यवस्था करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त, ये भाग [गोष्ठियों द्वारा] ऊपर लिखे गए [नियमों के] अनुसार ही बाँटे जाने चाहिए।

जी. बुहलर, "द पेहोवा इंसक्रिप्शन्स फ्रॉम द टेम्पल ऑफ गरीबनाथ", ऐपिग्राफिआ इंडिका, खंड I, पृ. 188-190.

हमें आठवीं-नौवीं शताब्दियों से नए प्रकार के बाज़ार स्थलों का पता चलता है। यह हमें लगभग पूरी तरह से केवल उत्तर भारतीय अभिलेखों में ही मिलता है। ये बाज़ार स्थल मण्डलिका हैं, जिसका शाब्दिक अर्थ है - छतदार क्षेत्र। उक्त शब्द को सहज ही मण्डियों के समकक्ष रखा जा सकता है, जो आधुनिक काल में गंगा-यमुना दोआब, उच्च गंगा घाटी तथा पश्चिमी भारत में विस्तृत रूप से पाई जाती हैं। ये मण्डियाँ ग्राम्यस्तरीय हाटों के मुकाबले बड़ी होती हैं, परन्तु बड़े शहरी क्षेत्रों में स्थित बाज़ारों के मुकाबले छोटी। मण्डि के सबसे प्राचीन संदर्भों में से एक हिमाचल प्रदेश में कांगड़ा क्षेत्र स्थित बैजनाथ प्रशास्ति (8वीं/9वीं शताब्दी) में देखा जा सकता है। कीड़ग्राम (आधुनिक काँगड़ा) में एक मण्डपिका थी जहाँ व्यापारियों के एक परिवार से संबंधित तीन व्यापारियों ने बैजनाथ स्थित एक मंदिर के लिए मण्डलिका से प्राप्त दैनिक वसूली में से 6 द्रम्म (चाँदी के सिक्के) नगद दान किए। सियादोनी (आधुनिक सिरों) में एक और वृहद् मण्डपिका थी जहाँ व्यापारियों (नमक व्यापारियों

समेत) और विभिन्न व्यावसायिक समूहों की विद्यमानता इन अभिलेखों से स्पष्ट होती है। अभिलेख यह भी बतलाते हैं कि मध्य-दसवीं शताब्दी से, और विशेष रूप से 1000 ईसवी के पश्चात्, राजस्थान और गुजरात में मण्डपिकाओं का एक उल्लेखनीय संकेंद्रण देखने में आया। नददुला (आधुनिक नादोल) स्थित मण्डलिका हमारा खास ध्यान आकर्षित करती है। नादोल से प्राप्त अभिलेख दर्शाते हैं कि नददुला प्रारम्भ में एक गाँव था, दरअसल बारहगाँवों के समूह में एक गाँव (द्वादशग्रामिय नददुलग्राम)। नददुला तत्पश्चात् एक मण्डलिका के रूप में उभरा जहाँ मुख्य रूप से अनाज व अन्य कृषि उत्पादों का उल्लेखनीय रूप से व्यापार होता था। नददुला को फिर एक नगर या शहर पुकारा जाने लगा और अन्ततः यह नादोल के चहमणों का राजनीतिक केन्द्र बन गया। ऐसा प्रतीत होता है कि नददुला बारह गाँवों के समूह के लगभग बीचों-बीच स्थित था या फिर उन गाँवों से न्यूनाधिक समान दूरी पर था। इसने नददुला को एक केन्द्र-बिन्दु के रूप में कार्य करने में बेहद मदद की जहाँ आसपास के गाँवों से अधिशेष कृषि उत्पाद लाए जाते थे। इसने ही नददुला में एक मण्डलिका की स्थापना हेतु मार्गप्रशस्त किया। ये कारक नददुला के एक गाँव से शहरी केन्द्र और अन्ततोगत्वा प्रारंभिक मध्यकालीन राजस्थान में स्थानीय सत्ता के एक शीर्ष राजनीतिक केन्द्र में उल्लेखनीय रूप से बदलने में कारगर सिद्ध हुए। यह तथ्य कि ये मण्डपिकाएँ व्यापार मार्गों और उपलब्ध परिवहन प्रणालियों से भली प्रकार जुड़ी हुई थीं, पुरालेखीय अभिलेखों से सिद्ध होता है। इस प्रकार 1114 ईसवी में उपभोक्ता वस्तुएँ बैलों (वृष), गदहों (गर्दभ), तथा ऊँटों (उष्ट्र) द्वारा मंगलपुरा (आधुनिक मंगरौल, गुजरात) स्थित मण्डपिका में लाई जाती थीं। मण्डपिकाएँ दाभोल (मध्यप्रदेश के पूर्वी भाग) स्थित कलचुरी राज्य में भी दृष्टिगोचर हो रही थीं। इस प्रकार की एक मण्डपिका बिल्हारी में स्थित थी और एक अन्य कारीतलई में। बिल्हारी स्थित मण्डपिका का उल्लेख 975 ईसवी के एक अभिलेख में मिलता है। मण्डपिका के वाणिज्यिक लक्षण का वहाँ एकत्रित होने वाले व्यापारियों के संदर्भ से स्पष्ट पता चलता है। कई मण्डपिकाओं को शुल्कमण्डपिकाओं के नाम से जाना जाता था, अर्थात् मण्डपिका में महसूल और सीमाकर नकद और वस्तु-विनिमय दोनों ही रूपों में वसूला जाता था। महसूलों या करों की वसूली मण्डपिका में वाणिज्यिक लेन-देनों का एक स्पष्ट प्रमाण है। नादोल स्थित मण्डपिका को श्रीनददुला तालपद शुल्कमण्डपिका के रूप में उल्लिखित किया जाता है। उक्त मण्डपिका को एक महसूल-वसूली केन्द्र के रूप में आधिकारिक रूप से मान्यता प्राप्त थी; इसके अतिरिक्त तालपद क्षेत्र (राजस्व हेतु पूरी तरह से कर-निर्धारित क्षेत्र) में इसकी स्थापना मण्डपिका के राजस्व-क्षमता संबंधी प्रबल संभावनाओं पर अधिक जोर देती है। जिन्सों की प्रभावशाली शृंखला, जो कि बिक्री हेतु मण्डपिका में लाई जाती थीं, भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। मण्डपिका में लाई जाने वाली वस्तुओं की सूची में अनाजों व हरी सब्जियों, नमक, आदि समेत कृषि उत्पादों की अनेक किस्में नियमित रूप से नज़र आती हैं। वस्त्र तथा विभिन्न प्रकार के मसालों का जिक्र भी कर-योग्य उत्पादों की फहरिस्त में है। काफी रोचक बात है कि काली मिर्च (मारिचा) मध्यप्रदेश के बिल्हारी स्थित मण्डपिका में उपलब्ध थी; यह मिर्च इस क्षेत्र का स्थानीय उत्पाद रहा हो ऐसा असंभव है। यह संभवतः सुदूर मालाबार से लाई जाती थी, अर्थात् वह क्षेत्र जो काली मिर्च के बागानों के लिए सबसे मशहूर है। बिल्हारी में और साथ ही श्रीपथ एवं वुसवत (बयाना, राजस्थान में, 955 ईसवी) की मण्डपिकाओं में छोड़े जैसी काफी कीमती वस्तुएँ भी बेची जाती थीं। हाथी, संत्रांत ग्राहक-वर्ग के लिए एक अन्य मूल्यवान पशु, बिल्हारी स्थित मण्डपिका में लाई गई कर-योग्य मर्दों की सूची में दृष्टिगोचर होता है। मण्डपिकाओं में इस प्रकार खाद्यान्नों, अनेक दैनिक उपभोग की वस्तुओं, (संभवतः भारी वस्तुओं के रूप में) तथा महँगी वस्तुओं जैसे मसाले एवं छोड़े व हाथी जैसे पशुओं, का लेन-देन होता था। कुछ मण्डपिकाएँ, उदाहरण के लिए, सियादोनी एवं बिल्हारी स्थित मण्डपिकाएँ, पत्तनमण्डपिका के रूप में वर्णित की गई थीं। इस शब्द का अर्थ या तो किसी शहरी क्षेत्र में कोई मण्डपिका अथवा एक ऐसी मण्डपिका जिसने शहरी आयाम ले लिया हो, हो सकता है। लेखापद्धति, गुजरात से प्राप्त एक प्रारंभिक मध्यकालीन ग्रंथ, महामण्डपिका शब्द का प्रयोग करता है। उपसर्ग महा का प्रयोग स्पष्टतः दर्शाता है कि चाहे जो हो कुछ मण्डपिकाएँ अपने प्रतिपक्षों के मुकाबले काफी बड़ी बन ही गई थीं। ऐसा प्रतीत होता है कि ये मण्डपिकाएँ अपने-अपने ग्रामीण आंतरिक-क्षेत्रों (hinterland) के साथ-साथ वृहत्तर शहरी क्षेत्रों के साथ भी महत्त्वपूर्ण व्यापार सम्बन्धों को कायम रखे थीं।

- 1) [पंक्ति 1-41 : सम्वत् 960, श्रावण (शब्दों और अंकों में)। संपूर्ण नगर ने अपने दक्षिणी भाग में, संगत के पुत्र, व्यापारी चाण्डुक द्वारा स्थापित, श्री-नारायण-भट्टारक को 200 × 225 हस्त माप का एक खेत दिया।
- 2) [4-7] : सम्वत् 964, मार्गशीर वदि.3 (शब्दों और अंकों में)। महासामन्ताधिपति उदंभट ने चाण्डुक द्वारा स्थापित, एक पंचीयकद्रम्म के चतुर्थांश और एक युग (?) श्री-विष्णु-भट्टारक के दैनिक भुगतान को सुनिश्चित करते हुए एक धार्मिक अनुदान दिया।
- 3) [7-8] : वही तिथि। संगत के पुत्रों, व्यापारी चाण्डुक, सवास, और महाप ने संगत के पुत्र चाण्डुक द्वारा स्थापित श्री-विष्णु-भट्टारक हेतु चार सदनों वाला एक आवासनिक (या आवास) दिया।
- 4) [8-10] : सम्वत् 965, अश्विन सु. दि. 1 (शब्दों और अंकों में)। चण्डू के पुत्र व्यापारी नागक ने इस आशय के साथ कुछ कुम्हारों द्वारा उपाजित एक धार्मिक अनुदान दिया कि मादक मदिरा के आसवक, मदिरा के हर पीपे पर, देवता (विष्णु) को आधे विग्रहपालद्रम्म (?) के बराबर मदिरा देगे।
- 5) [10] : चण्डू के पुत्र, व्यापारी नागक ने एक वारहक्याविम्सोपक (?) के कुछ शक्कर बनाने वालों द्वारा दैनिक भुगतान को सुनिश्चित करता एक धार्मिक अनुदान प्रदान किया।
- 6) [11-13] : सम्वत् 967, फाल्गुन व. दि. 15 (शब्दों और अंकों में)। व्यापारी वासुदेव ने चाण्डुक द्वारा स्थापित श्री-विष्णु-भट्टारक के निकट (?) वासुदेव द्वारा स्थापित, श्री-विष्णु-भट्टारक को दोसीहट्ट में एक आवासनिक (?); और (उसी) देवता को, (पवित्र अग्नि की पूजा हेतु) अपना एक घर दिया।
- 7) [13-15] : व्यापारी चाण्डुक ने प्रसन्नहट्ट में एक वीथि (या दुकान) *.: और संगत के पुत्र, उसी चाण्डुक ने श्री-विष्णु-भट्टारक को अपनी चार पैतृक वीथियाँ दी।
- 8) [15-16] : वटेश्वर के पुत्र, पान बेचने वाले केशव ने, चाण्डुक द्वारा स्थापित, श्री-विष्णु-भट्टारक को चतुर्हट्ट में अपनी एक पैतृक वीथि दी।
- 9) [16-17] : चण्डू के पुत्र, व्यापारी नागक ने श्री-विष्णु-भट्टारक को, दोसीहट्ट में उपाजित, दो वीथियाँ दीं।
- 10) [17-18] : महाप के पुत्र, व्यापारी शिलुक ने श्री-नारायण-भट्टारक को स्वयं द्वारा उपाजित एक वीथि दी।
- 11) [18-20] : सम्वत् 969, माघ सु. दि. 5 (शब्दों और अंकों में)। चण्डू के पुत्र, व्यापारी नागक ने मादक मदिरा के आसवकों के पास निवेशित, 1,350 श्रीमदादिवारहद्रम्म की पूँजी iff, जिन्हें श्री-विष्णु-भट्टारक को मदिरा (?) के हर पीपे पर आधा विग्रहपालद्रम्म प्रति माह चुकाना था।
- 12) [20-21] : चण्डू के पुत्र, व्यापारी नागक ने दोसीहट्ट (?) में कुछ युगों पर दो कपर्दकों के भुगतान वाला एक धार्मिक अनुदान दिया।
- 13) [21-22] : नागक ने श्री-नारायण-भट्टारक को दोसीहट्ट में उपाजित एक वीथि A।
- 14) [22-23] : चण्डू के पुत्र नागक ने श्री-नारायण-भट्टारक को स्वयं की तीन वीथियाँ दीं।
- 15) [23-24] : गोविन्द के पुत्र, व्यापारी भैला ने श्री-वामनस्वामिदेव को एक पैतृक वीथि (विग्रहपालियद्रम्म? का एक-तिहाई हिस्से वाली) दी।
- 16) [24-25] : नागक ने त्रिभुवनस्वामिदेव को दो मकान दिए।
- 17) [25-26] : पान विक्रेता धामक ने श्री-उमामहेश्वर को स्वयं द्वारा खरीदा गया एक उवटक दिया।
- 18) [26-27] : सम्वत् 994, वैशाख व. दि. 5 संक्रांती। केशव के पुत्र, पान विक्रेता शवर, और इच्छू के पुत्र माधव, ने चाण्डुक द्वारा स्थापित, देवता (विष्णु) को पत्तियों की हर पालिका पर एक विग्रहद्रम्मविशोवक के भुगतान के रूप में एक धार्मिक अनुदान दिया।
- 19) [27] : सवास ने त्रिभुवनस्वामिदेव को एक वीथि दी।
- 20) [27-28] : नागक ने तेलियों (?) के हर कोल्हू से तेल की एक पालिका दी।
- 21) [28-29] : सम्वत् 1005, माघ सु. दि. 5 (शब्दों और अंकों में) दोसीहट्ट में महाजनों ने व्यापारी विक्रम द्वारा स्थापित, श्री-भैलास्वामिदेव को एक-तिहाई द्रम्म का एक मासिक भुगतान अर्पित किया।
- 22) [29-30] : सूत्रधार जेजप, विषियक, भालुयक, व अन्य संगतराशों ने श्री-विष्णु-भट्टारक को हर भारन पर एक-तिहाई विग्रहपालद्रम्म का भुगतान अर्पित किया।
- 23) [30-31] : सम्वत् 1008, माघ सु. दि. 11 (केवल अंकों में)। केशव, दुर्गादित्य, व अन्य तेलियों ने चण्डू द्वारा बनवाये गए विष्णु के मंदिर में पुरंदर द्वारा स्थापित, श्री-चक्रस्वामिदेव को हर कोल्हू से तेल की एक पालिका दी।
- 24) [31-33] : पप्पा के पुत्रों, व्यापारी महादित्य एवं नोहल ने देवद के पुत्र, पप्पक द्वारा स्थापित, श्री-चक्रस्वामिदेव को तीन सदनों वाली एक आवासनिका दी।
- 25) [33-34] : सम्वत् 991, माघ सु. दि. 10 (अंकों में)। चण्डू के पुत्र नागक, जाजू के पुत्रों देदैका, वालि और रुदक, तथा शव के पुत्र छितरक ने देवता (विष्णु) को एक आवासनिका, उससे सम्बद्ध सदनों एवं वीथियों के साथ, दी।
- 26) [34-36] : जाजू के पुत्रों देदैका, वलिका एवं रुदक ने चण्डू द्वारा स्थापित, श्री-विष्णु-भट्टारक को चतुष्कहट्ट में एक वीथि दी।
- 27) [36-39] : सम्वत् 1025, माघ व. दि. 9 (अंकों में)। महादित्य के पुत्र, व्यापारी श्रीधर ने चण्डू द्वारा बनवाए गए विष्णु के मंदिर में महादित्य द्वारा स्थापित श्री-विष्णु-भट्टारक को एक वीथि (?) के किराये के रूप में देय एक चौथाई श्रीमदादिवारहद्रम्म अर्पित किया।

बाज़ार क्षेत्रों में स्पष्टतः दुकानें हुआ करती थीं। जिन्हें *वीथि* अथवा *अपण* कहा जाता था। सियादोनी में कुछ दुकानों का वर्णन इस रूप में किया गया है कि वे कुछ व्यापारियों के स्वामित्व में पैतृक रूप से थीं (*पितृपितामहोपरजिता*), कुछ अन्य व्यापारियों द्वारा स्वयं अधिकार में रखी जाती अथवा बनवाई जाती थीं (*स्वोपरजिता*)। व्यापारियों द्वारा पैतृक रूप से अधिकार में रखी जाने वाली दुकानों का जिक्र - संभवतः तीन पीढ़ियों तक - एक लम्बी अवधि तक इस प्रकार के व्यापारिक प्रतिष्ठानों में सक्रिय वाणिज्यिक गतिविधियों की तजवीज करता है। ये दुकानें प्रमाणतः खुदरा व्यापार के प्रयोजन से ही थीं।

यद्यपि *हट्ट/हट्टिका* और *पुर*, *नगर* पाल-सेन कालीन (लगभग 750-1200 ईसवी) ताम्रपत्रों में दृष्टिगोचर होते हैं, बंगाल में *मण्डपिकाएँ* नहीं दिखाई देतीं। बंगाल, जो गंगा डेल्टा में स्थित है और अनेक नदियों द्वारा सिंचित हैं, में नदीतटीय घरेलू संचार-व्यवस्था में मददगार बहुत से तटीय बंदरगाह थे। बंगाल से प्राप्त प्रारंभिक मध्यकालीन ताम्रपत्र प्रायः ग्रामीण स्थानों में सरहदों के रूप में छोटे नौका स्टेशनों (*नौ-दण्ड*, *नौ-बंध*) का उल्लेख करते हैं जिनमें असंख्य सोते और छोटी नदियों (*स्रोतस्विनी*, *गंगिणिका*), नहरें, तथा कुल्याएँ (*channels*) होती हैं। निस्संदेह सर्वाधिक महत्वपूर्ण नदीय मार्ग गंगा या भागीरथी के साथ-साथ ही था जिस पर अनेक बेड़े चलते थे (*स खलु भागीरथीपथप्रवर्तमान-नौवत*)। सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही इस डेल्टा के पूर्वी भाग में तटवर्ती बंदरगाह नज़र आने लगे। ऐसा ही एक बंदरगाह था देवपर्वत (आधुनिक मैनामती-लालमाई, बंगलादेश) जो ताम्रपत्रों (सातवीं से प्रारंभिक दसवीं शताब्दी) के अनुसार क्षीरोदा नदी के तट पर था जिस पर देवपर्वत नदी-पत्तन के इर्द-गिर्द अनेक नौकाएँ चलती थीं। साभर (बंगलादेश की राजधानी ढाका के निकट) से प्राप्त, लगभग 971 ईसवी के एक अन्य ताम्रपत्र में एक अजीब से स्थान का नाम लिपिबद्ध है : *वंगसागर-सांभन्दरीयाक*। साभर वाम्सी नदी के तट पर स्थित है और एक छोटे से आंतरिक नदी-पत्तन के रूप में काम करता है। *सांभन्दरीयाक* शब्द का अर्थ वस्तुओं के संचयन (*भण्डार*) हेतु पर्याप्त एवं समुचित सुविधाएँ (*सम्यक*) प्रस्तुत करते एक स्थान से लगाया जा सकता है। साभर 'सांभर' शब्द से ही व्युत्पन्न हुआ बताया जाता है जिसका अर्थ है जिन्सों का भण्डार। इस बात की प्रबल संभावना है कि साभर या प्राचीन सांभर एक *सांभन्दरीयाक* का ही प्रतिनिधित्व करता था। साभर स्थित यह भण्डारण सुविधा ही उसे पूर्वकालीन पुटभेदनों के निकट लाई हो सकती है (दिएँ ऊपर)।

व्यापारिक गतिविधियों के वर्णन विभिन्न प्रकार के साहित्यिक ग्रंथों में मिलते हैं। गिरसेनसूरी की *निवलयमाला* (लगभग 8वीं शताब्दी) व्यापारियों की एक सभा (*वणिकमेली*) का सजीव वर्णन प्रस्तुत करती है जो सूरपरक के सुप्रसिद्ध बन्दरगाह नगर में जमा हुए। यद्यपि यह विवरण संभवतः पूर्वकालीन स्मृतियों पर आधारित है, विशेष बात है उनके बीच व्यापारियों के अनुभवों का आदान-प्रदान। यह बन्दरगाह आर्यसूर (लगभग 7वीं/ 8वीं शताब्दी) की *जातकमाला* में भी नज़र आता है। सूरपरक में, इस ग्रंथ के अनुसार, भगवान् बुद्ध अपने एक पूर्व जन्म में एक निपुण नाविक के रूप में रहा करते थे जो जहाज़ों को बन्दरगाह तक लाने (*आहरण*) और वहाँ से ले जाने (*अपहरण*) की कला में कुशल था। ये बातें वाणिज्य की निरंतरता, न कि हास, की छाप छोड़ती हैं, जो इस धारणा के विरुद्ध है कि सामन्ती सामाजिक संरचना के आलोक में वाणिज्य का पतन हुआ।

उत्तर भारत के विशाल मैदानों में अक्सर ही संचार के अनेक स्थल मार्ग हुआ करते थे, उनमें से कुछ प्रारंभिक मध्यकाल में विशेष रूप से प्रमुख थे। इस प्रकार शिया-तां (785-805) एक ऐसे मार्ग के विषय में वर्णन करता है जो पुंद्रवर्धन (उत्तर बंगाल) और कजनिगला (राजमहल की पहाड़ियों के निकट) को छूते हुए कामरूप से मगध जाता था। बहुत से स्थल मार्ग कान्यकुब्ज को भारत के विभिन्न भागों से जोड़ते थे, जैसा कि अलबरुनी लिखता है। एक ऐसा ही मार्ग अयोध्या, वाराणसी, पाटलिपुत्र एवं मुँगेर से होकर कान्यकुब्ज से गंगासागर (समुद्र के साथ गंगा

के संगम पर) तक जाता था। कान्यकुब्ज से आरंभ एक अन्य मार्ग प्रयाग (इलाहाबाद) से जुड़ता था, फिर मध्यप्रदेश के रीवा क्षेत्र से होकर होकर पहुँचता था और फिर वहाँ से सुदूर दक्षिण में कांचीपुरम (चेन्नई के निकट) तक चला जाता था।

गंगा-यमुना दोआब, अलवरूनी के अनुसार, पश्चिमी भारत के साथ भलीभाँति जुड़ा हुआ था। इस प्रकार, मथुरा के उज्जयिनी और बयाना (राजस्थान) के साथ स्थल मार्गीय संबंध थे और दोनों ही स्थानों से काठियावाड़ में सोमनाथ के सुप्रसिद्ध बंदरगाह तक पहुँचना संभव था।

बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ के कुछ सेनवंशी राजाओं के ताम्रपत्रों में एक नई प्रकार की बस्ती दृष्टिगोचर होती है, जिसका नाम था चतुरक। चतुरक शब्द बारहवीं शताब्दी में पूर्वी बंगाल से प्राप्त अभिलेखों में नहीं दिखाई पड़ता है। शाब्दिक रूप से इसका अर्थ है एक ऐसा स्थान जो चार सड़कों के संचरण पर स्थित हो। चतुरक कोई गाँव नहीं था, बल्कि यह कोई बड़ा शहरी विपणन क्षेत्र भी नहीं था। ऐसे ही एक चतुरक को बेटादा-चतुरक कहते थे जो गंगा नदी के तट पर था (पूर्व जहनविसिम)। इसको हावड़ा ज़िला, पश्चिम बंगाल में बेतोर (Betore) के नाम से जाना जाता है जिसको सरस्वती नदी पर सप्तग्राम के प्रसिद्ध बंदरगाह के साथ गंगा को जोड़ते एक आंतरिक नदी-तटीय बंदरगाह के रूप में सोलहवीं शताब्दी में उल्लेखनीय महत्त्व मिला। एक नदी तटीय बंदरगाह के रूप में बेतोर की भूमिका की शुरुआत इस प्रकार बारहवीं शताब्दी से ही हो चुकी थी। गंगा डेल्टा में इन आंतरिक बंदरगाह नगरों का स्थान ग्रामीण आंतरिक क्षेत्रों और बृहद् शहरी केन्द्रों के बीच मध्यवर्ती था और ये न्यूनाधिक उत्तरी एवं पश्चिमी भारत की प्रारम्भिक मध्यकालीन मण्डपिकाओं की ही भाँति भूमिका निभाते थे।

उपर्युक्त स्रोत संभवतः उत्तर भारत में व्यापार के पतन की स्थिति को नहीं दर्शाते हैं। वाणिज्य संबंधी अप्रत्यक्ष प्रमाण ताम्रपत्रों में उपलब्ध विभिन्न राजस्व-वसूल करने वाले अधिकारियों की सूची से भी बटोरे जा सकते हैं। इस प्रकार, हट्टपति (हट्टों का प्रभारी अधिकारी), शौल्किक (शुल्क या करों तथा सीमाकरों की वसूली का प्रभारी अधिकारी), तारिक (तारा अथवा नौका शुल्क की वसूली का प्रभारी अधिकारी), गमागमिका (प्रवेशद्वार और निकास की देखरेख करने वाला अधिकारी), नौवत और अर्ध-नौवत (व्यापारिक बेड़ों के आवागमन का पर्यवेक्षण करने वाले वरिष्ठ एवं कनिष्ठ अधिकारीगण), आदि के संदर्भ उत्तर भारत में व्यापारियों एवं वस्तुओं की आवाजाही को यथासंभव उजागर करते हैं। यह संचार के कुछ मार्गों के अस्तित्व को इंगित करता है, विशेष रूप से उत्तर भारत में स्थल संचार के। नौवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में वीरभद्रदेव ने नगरहार (जलालाबाद, अफगानिस्तान) से सम्बोधी (बोधगया, बिहार) तक एक यात्रा शुरू की। वह अभिलेख जो इसे लिपिबद्ध करता है, में बोधगया में अपने अनेक स्वदेशवासियों को देखकर वीरभद्रदेव के हर्ष का भी बखान करता है। यह इस विस्तृत स्थल संचार व्यवस्था के साथ-साथ यात्रा की नियमितता और बारंबारता को भी प्रचुरता से दर्शाता है। यह स्थल मार्ग गंगाघाटी में भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमाक्षेत्र से उम्दा जंगी घोड़ों के आयात हेतु निश्चय ही विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण रहा होगा। इसीलिए इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि पालकालीन अभिलेख उत्तरी भू-भागों से घोड़ों की प्राप्ति हेतु पालवंशी राजाओं की उत्सुकता का वर्णन करते हैं। इस बात की पुष्टि मिन्हाज-उस सिराज की तबकात-ए नगसिरी द्वारा भी होती है, जो नाडिया (सेनवंशी राजा लक्ष्मणसेन की राजधानी, लगभग 1179-1199 ईसवी) में अरबी घोड़ों के व्यापारियों की नियमित आमद को जोर देकर बताती है। उत्तर-पूर्वी सीमाक्षेत्रों और विशेष रूप से कामरूप के साथ बंगाल के संबंध की पुष्टि अभिलेखों, मिन्हाज के विवरणों और मार्को पोलो की यात्राओं (लगभग 1254-1324 ईसवी) द्वारा विशेष रूप से होती है। चालुक्य शासकों के अधीन गुजरात ने स्थलमार्गीय संपर्कों में उल्लेखनीय सुधारों का अनुभव किया। चालुक्य राज्य (पटन) का मुख्य शहर अनहिलपुर मुंजापुर, मुंजुवाड़ा, वीरंगाम, बधवान, साएला, वनधली, आदि के साथ भलीभाँति जुड़ा था। दूसरी ओर, यह वाराणसी, प्रयाग और धार (मध्य भारत में) के साथ भी जुड़ा था। गुजरात के महत्त्वपूर्ण बंदरगाहों की, जैसे स्तंभपुर या कैम्बे और

सोमनाथ, आंतरिक नगरों, खासकर जो मालवा पठार में थे, के साथ प्रभावशाली संचार-व्यवस्था कायम थी। ताम्रलिप्त, जो आठवीं शताब्दी तक पूर्व का मुख्य बंदरगाह था, में अयोध्या व्यापारी आते रहते थे। 1024 ईसवी में तटीय आंध्र से बंगाल में बंगला-देश तक चोलवंशी राजा राजेन्द्र का साहसी अभियान उड़ीसा के साथ बंगाल और फिर वहाँ से आंध्र की ओर स्थलमार्गीय संपर्कों को इंगित करता है। सुदूर उत्तर-पश्चिम में, पंजाब में मुलतान ने व्यापार के एक प्रमुख केन्द्र के रूप में उल्लेखनीय महत्त्व प्राप्त कर लिया जो गंगा के मैदानों और साथ ही इस उपमहाद्वीप के उत्तर-पश्चिमी सीमावर्ती क्षेत्र से भी जुड़ा था। मुलतान एक प्रमुख व्यापार केन्द्र के रूप में अरब-वर्णनों में व्यापक रूप दिखाई देता है।

लंबी दूरी के समुद्री व्यापार में महत्त्वपूर्ण विद्यमानता

उपर्युक्त आँकड़े और तर्क प्रारंभिक मध्यकालीन उत्तर भारत में व्यापार में किसी अवनति को नहीं दर्शाते हैं। उपलब्ध जानकारी का ध्यानपूर्वक अनुशीलन भी उत्तर भारत के अन्य बाह्य क्षेत्रों के साथ व्यापार में गिरावट की तजवीज नहीं करता है। इस उद्देश्य से अरबी और फारसी स्रोत हमें महत्त्वपूर्ण जानकारी उपलब्ध कराते हैं। बड़े आश्चर्य की बात है कि भारतीय सामन्ती संरचना के पक्षधरों ने आमतौर पर भारत के लंबी दूरी के व्यापार संबंधी ज्ञान के विषय में इन स्रोतों की उपेक्षा ही की है। पश्चिम एशिया, अफ्रीका के कई भागों में और भूमध्यसागर से लेकर स्पेन तक इस्लाम का उदय और प्रसार वाणिज्यिक गतिविधियों में सहायक सिद्ध हुआ। इस्लाम की व्यापार एवं शहरवाद के प्रति एक विशिष्ट पहचान थी। आठवीं शताब्दी में अब्बासिद खलीफा पद की स्थापना एवं सुदृढीकरण ने मध्य एशिया, चीन और दक्षिण एशिया के साथ पश्चिम एशिया के स्थलमार्गी संचार में मदद की। परन्तु समुद्री व्यापार में अधिक शानदार विकास गौरतलब है। अब्बासिद खलीफा पद खाड़ी के उत्तरी भाग में मुख्य बंदरगाह के रूप में सिराफ़ के साथ फारस की खाड़ी (दरिया-ए अखज़ार) के महत्त्व को बढ़ाने में सहायक रहा। 969 ईसवी में मिस्त्र में फातिमिद खलीफा पद की स्थापना से समुद्री व्यापार में एक अन्य महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आया। यह पश्चिमी हिन्द महासागर की प्रमुख समुद्र-गली (sea-lane) के रूप में लाल सागर के उत्कर्ष में परिणत हुआ, जिससे भारत के साथ-साथ भूमध्यसागरीय क्षेत्रों के साथ भी समुद्री व्यापार में मदद मिली। हिन्द महासागर में लंबी दूरी के समुद्री व्यापार का पश्चिमी टर्मिनल या तो सिराफ़ में या फिर मिस्त्र में एलैक्जेंड्रिया और पूर्वी टर्मिनल तटवर्ती दक्षिण-पूर्व एशिया के साथ-साथ चीन के तट पर भी थे। हिन्द महासागर में इन हलचलों को, जो मानसून पवनों के परिवर्तनों की निश्चित भविष्यवाणी द्वारा दिशानिर्देशित और निरूपित होती थीं, भारत को भी शामिल करना पड़ा जो हिन्द महासागर के केन्द्र में स्थित था। इस समुद्री स्थल का अल बहर अल हिन्द (भारतीय सागर या महासागर) के रूप में नामांकन ही भारतीय बन्दरगाहों एवं पत्तनों के साथ अरब व्यापारियों एवं यात्रियों की चनिष्टता पर विशेष जोर देता है। बहर अल हिन्द के दो खंडों से अरब लेखक भली-भाँति परिचित थे : बहर लार्वी (लार् = लता या दक्षिणी गुजरात; गुजरात का समुद्र, अर्थात् अरब सागर) और बहर हरकाल (हरिकेला का समुद्र; हरिकेला बंगलादेश के दक्षिण-पूर्वी भाग पर स्थित था; तदनुसार बहर हरकाल बंगाल की खाड़ी को इंगित करता है)। ज्ञातव्य है कि 971 ईसवी के एक ताम्रपत्र में बंगाल की खाड़ी का बंगसागर के रूप में उल्लेख किया जा चुका है। यद्यपि दक्खन और सुदूर दक्षिण भारत में बंदरगाह संख्या में काफी हैं, अरबी एवं फारसी साहित्यिक स्रोतों से उत्तर भारत के भी अनेक बन्दरगाहों का पता चलता है। यह सत्य है कि ये साहित्यिक स्रोत उत्तर-1000 ईसवी के दौरान व्यापार के वृहत्तर परिमाण एवं नियमितता की बात करते हैं, परन्तु 1000 ईसवी से पूर्व भी भारत के समुद्री व्यापार के स्पष्ट संकेत मिलते हैं।

चचनामा आठवीं शताब्दी में सिंध पर प्रथम अरबी आक्रमण का वर्णन और एक अरबी इतिहासकार अल बालाधूरी (मृ. लगभग 892 ईसवी) के विवरण सिन्धु डेल्टा स्थित देबुल बंदरगाह के महत्त्व को दर्शाते हैं। इस समय तक पहले ही देबुल श्रीलंका के साथ अपने सामुद्रिक

संपर्कों के लिए जाना जाता था। इस प्रारम्भिक मध्यकालीन बंदरगाह के अवशेष पाकिस्तान में बनभोर स्थल से प्राप्त खुदाई में मिलते हैं। देबुल का प्राधान्य नौवीं से बारहवीं शताब्दी के अरब लेखकों के विवरणों में भी बना रहा। उत्तरी भारत के पश्चिमी तट-प्रदेशों में, बहरहाल, गुजरात तट ही है जिसने विशेष प्रसिद्धि हासिल की। यद्यपि भड़ौच, जिसे अरब वृत्तांतों में बरुज कहा गया है, लुप्तप्राय हो चुका था। वाणिज्य के परिदृश्य पर एक महान् बन्दरगाह उभरकर आया, श्रीस्तंभपुर/श्रीस्तंभतीर्थ अथवा आधुनिक कैम्बे। यह सुलेमान (लगभग 851 ईसवी), इब्न खुदाबिह (लगभग 882 ईसवी), अल मसूदी (915 ईसवी), बुजुर्ग इब्न शहरीयार (955 ईसवी), हुदूद अल आलम के एक बेनाम लेखक (982 ईसवी), अल बरुनी (1034 ईसवी), अल इदरीसी (1162 ईसवी), चाउ-जू-कुआ (1225 ईसवी), मार्को पोलो (1295 ईसवी) और इब्न बतूता (चौदहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध) के अरबी वृत्तांतों में बारंबार नज़र आता है। इसने सिराफ और होर्मुज़ जैसे दोनों ही फ़ारस की खाड़ी के बन्दरगाहों तथा लाल सागर के मुहाने पर एड़न के साथ संपर्क कायम किए। दो प्रारंभिक मध्यकालीन संस्कृत साहित्यिक स्रोत - वस्तुपालमहात्म्य तथा जगदुचरित - दो प्रमुख गुजराती व्यापारियों - वस्तुपाल और जगदू (बारहवीं/तेरहवीं शताब्दी) के गतिविधि-केन्द्र के रूप में इसी बंदरगाह की बात करते हैं। कैम्बे, निश्चय ही उत्कृष्ट बंदरगाह था, हालाँकि, उसे अनेक छोटे बंदरगाहों का यथासंभव सहयोग प्राप्त था जो कैम्बे के मुख्य बंदरगाह हेतु सहायक बंदरगाहों के रूप में काम किया करते थे। यह थे : सोमनाथ (1264 ईसवी के एक संस्कृत-अरबी द्विभाषी अभिलेख में प्रमुखता से नज़र आने वाला), अलदीब (द्यू, एक बारहवीं-शताब्दी यहूदी व्यापार-पत्र में उल्लिखित) और घोघा। पुरालेखीय एवं साहित्यिक स्रोतों में होर्मुज़ (संस्कृत साहित्यिक स्रोतों में वर्णित आर्द्रपुर) तथा कैम्बे, सोमनाथ तथा घोघा के बीच गहन संपर्क संबंधी पर्याप्त दस्तावेज मिलते हैं। घोघा का होर्मुज़ से आने वाले जहाज़ों (हुर्मुजीवाहन) के आगमन बिन्दु के रूप में विशिष्ट रूप से उल्लेख मिलता है। कैम्बे बंदरगाह का कोंकण तट के भी अनेक बन्दरगाहों से विशिष्ट संपर्क था, जैसे थाना, संजन और चौल, इनमें सभी का उल्लेख अरबी वृत्तांतों में मिलता है। गुजरात एवं निकटवर्ती उत्तर कोंकण तट में ये बंदरगाह भारतीय साहित्यिक स्रोतों एवं अभिलेखों में भी दृष्टिगत होते हैं, जिन्हें आमतौर पर वेलकुल अथवा बन्दरगाह की संज्ञा दी गई है।

अब हम अपना ध्यान बंगाल तट पर स्थित बंदरगाहों की ओर करते हैं, जो चारों तरफ से भूमि से घिरी गंगा घाटी के लिए समुद्र हेतु एक प्रमुख निर्गम मार्ग था। यह सत्य है कि आठवीं शताब्दी ईसवी के पश्चात् ताम्रलिप्त के महापत्तन की सक्रिय भूमिका के विषय में कुछ भी पता नहीं चलता। परंतु इस बात से भी इंकार नहीं किया जा सकता कि कम से कम सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध से ही ह्वेनसांग दक्षिण-पूर्व एशिया में कुछ क्षेत्रों के साथ समतट (गंगा डेल्टा का अंतिम पूर्वी छोर) के समुद्री संपर्कों से प्रभावित था। ऐसा तब हो रहा था जब ताम्रलिप्त अपने गौरव के चरमोत्कर्ष पर था। समतटहरीकेला क्षेत्र सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में तटवर्ती दक्षिण-पूर्वी एशिया के साथ एक प्रमुख क्षेत्र के रूप में उभर रहा था, यह बात इत्सिंग (भारत-भ्रमण 675-95 ईसवी) के वृत्तांतों से प्रमाणित होती है। मध्य-नौवीं शताब्दी से लेकर चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक के अरब वृत्तांत धौम (DHM-धौम; अर्थात् पालवंशी राजा धर्मपाल) के राज्य में एक बंदरगाह की बड़ी तारीफ करते हैं, जिससे इसके बंगाल डेल्टा में होने का पता चलता है। यह बंदरगाह है समन्दर। यह नाम संभवतः समुद्र या सागर शब्द से व्युत्पन्न है। इब्न बतूता ने इसे सुदकावन के नाम से जाना। यह एक नदी के मुहाने पर स्थित था और इसके करीब ही एक द्वीप भी था जो अल इदरीसी (1162 ईसवी) के अनुसार, विविध देशों के व्यापारियों से परिपूर्ण था। इदरीसी यह भी लिखता है कि यह बंदरगाह एक संकरी खाड़ी या प्रवेशिका (खावर) के नज़दीक स्थित था जो बेड़े की आवाजाही में मदद करती थी। इब्न बतूता ने सुदूर उत्तर में सुदकावन से हबांग तक, जिसे बंगलादेश में हबीगंज के नाम से जाना जाता है, की यात्रा की थी। उसने नील नदी के किनारे-किनारे भी एक यात्रा की। इस नदी की आमतौर पर मेघना के नाम से पहचान की जाती है। समन्दर/सुदकावन के विषय में विभिन्न

साहित्यिक वृत्तांतों ने इसकी पहचान आधुनिक चिटागांग (चट्टग्राम) के निकट स्थित एक बंदरगाह के साथ की। वस्तुतः, क्रमानुसार आठवीं और दसवीं शताब्दी के दो पात्र-अभिलेखों (vase-inscription) में यह क्षेत्र *नवचट्टमण्डल* के नाम से जाना गया। ताम्रलिप्त के पतन और विलुप्ति की क्षतिपूर्ति पर्याप्त रूप से इस डेल्टा के पूर्वतम हिस्से में एक नए बन्दरगाह के उदय के साथ हुई प्रतीत होती है। समन्दर ने, अरबी साहित्यिक स्रोत के अनुसार, सेरेनदीब (श्रीलंका), उरानशिन (उड़ीसा), गंगा (कोरोमण्डल में कांचीपुरम), आदि के साथ वाणिज्यिक संपर्क कायम रखे। इब्न बतूता, हालाँकि बाद के काल में आया फिर भी, सुदकावन और मालदीव के बीच समुद्र-यात्राओं की बात करता है। सुदकावन के दक्षिण-पूर्व एशिया के साथ संपर्कों के विषय में हमारे पास पर्याप्त जानकारी नहीं है। परन्तु नालन्दा से प्राप्त एक ताम्रपात्र से यह भलीभाँति पता चलता है कि जावा के राजा बलपुत्रदेव ने पालवंशी शासक राजा देवपाल (802-37 ईसवी) से निवेदन किया था कि वह नालन्दा विहार को पाँच गाँव अनुदान स्वरूप दे; जावा के राजा के निवेदन को यथावत् सम्मान दिया गया। यह बंगाल और तटवर्ती दक्षिण-पूर्व एशिया के बीच नियमित सांस्कृतिक संपर्कों का स्पष्ट संकेतक है। ऐसे सांस्कृतिक सम्पर्क इन दो क्षेत्रों के बीच निरन्तर वाणिज्यिक संपर्कों का ही परिणाम प्रतीत होते हैं। महत्वपूर्ण बात यह है कि अरब लेखक समन्दर बंदरगाह पर उम्दा किस्म के कपड़ों, कमरूनी रामबाँस की लकड़ी, गेंडे के सींगों और तलवारों की उपलब्धता की बात करते हैं, जो निश्चित रूप से इन उत्पादों की जहाजों पर लदाई/उतराई का स्थान था। कमरूनी रामबाँस की लकड़ी, जिसका स्थान केवल मुलतान की रामबाँस लकड़ी के मुकाबले दूसरा था, स्वयं बंगाल या समन्दर का कोई स्थानीय उत्पाद नहीं था। यह कामरूप से नदी-मार्ग द्वारा समन्दर लाया जाता था। गेंडे का सींग भी भारत के उत्तर-पूर्वी भागों से ही समन्दर तक पहुँचता प्रतीत होता है। तलवार संभवतः अंग (पूर्वी बिहार), जो इस हथियार को बनाने के लिए प्रसिद्ध था, में निर्मित वस्तु थी। वस्त्र पूरी संभावना के साथ बंगाल के स्थानीय उत्पाद ही थे, जो सबसे उम्दा किस्म के सूती कपड़ों के उत्पादन के लिए निरन्तर प्रसिद्ध था। समन्दर का बंदरगाह, इस प्रकार, एक विस्तृत आंतरिक क्षेत्रों से जुड़ा हुआ था। जैसा कि हमने पहले उल्लेख किया, गंगा डेल्टा के छोटे और अन्तरदेशीय नदीय बंदरगाह (उदाहरण के लिए, देवपर्वत और *वंगसागरसम्भवदारियक*) सम्भवतः बंगाल डेल्टा में प्रमुख बंदरगाह थे और आंतरिक क्षेत्रों के बीच महत्वपूर्ण सम्पर्क प्रदान करते थे। प्रारंभिक मध्यकालीन बंगाल में सक्रिय लंबी दूरी के समुद्री व्यापार के विषय में कम ही मतभेद है। प्रारंभिक मध्यकालीन बंगाल में लंबी दूरी के व्यापार के हास संबंधी धारणा को स्वीकार करना मुश्किल है।

सशक्त व्यापारी समुदाय की विद्यमानता

हमारे स्रोत व्यापारियों की विविधता पर भी जोर देते हैं। जबकि पुरातन शब्द जैसे *वणिक*, *सार्थवाह* तथा *श्रेष्ठी* प्रचलन में बने रहे, नए प्रकार के व्यापारी भी नज़र आये। पश्चिमी भारत से प्राप्त एक दसवीं-शताब्दी का अभिलेख *श्रेष्ठी-सार्थ* का उल्लेख करता है, जो संभवतः एक मुद्रा-व्यापारी था क्योंकि उसका वर्णन चाँदी के सिक्के ढालने वाले के संदर्भ में किया गया है। सियादोनी की प्रसिद्ध *मण्डपिका* में हमें एक नमक-व्यापारी (*नेमक-वणिज*) की सक्रिय विद्यमानता दिखाई पड़ती है। वह इतना सम्पन्न था कि सियादोनी में बहुत से मंदिरों को पर्याप्त संरक्षण प्रदान कर सकता था। हालाँकि प्रारंभिक मध्यकालीन बंगाल के अभिलेखों में व्यापारी वैयक्तिक रूप से बड़ी संख्या में दृष्टिगोचर नहीं होते हैं, दसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के एक दान-संबंधी अभिलेख में एक *वृद्धसार्थ* का उल्लेख आता है। *वृद्धसार्थ* शब्द का शाब्दिक अर्थ एक वृद्ध व्यापारी हो सकता है; इसका अभिप्राय एक वरिष्ठ नेता से भी हो सकता है (दक्षिण भारतीय अभिलेखों के *वृद्धव्यवहारी* शब्द से तुलना करें)। गुजरात एवं राजस्थान से प्राप्त मध्यकालीन अभिलेख व्यापारियों द्वारा धार्मिक एवं सांस्कृतिक केन्द्रों को दिए जाने वाले विपुल अनुदानों का संदर्भ देते हैं। राजस्थान से प्राप्त प्रारंभिक मध्यकालीन अभिलेखों की सूक्ष्म जाँच अनेक स्थानीय व्यापारी

प्रारम्भिक मध्यकालीन अर्थव्यवस्था
और उसकी निरन्तरताएँ

वंशों के बढ़ते महत्त्व पर जोर देती है, उदाहरणार्थ, धूसर, धर्कट, उएसवाल/उइसवाल (बाद में ओसवाल), श्रीमाली और प्रागवत। अनुदान देने वाले व्यापारी प्रायः दान देते समय अपनी वंशावली पर जोर देते थे, वो इस बात पर इसलिए बल देते थे कि वे दर्शाना चाहते थे कि वे प्रतिष्ठित वर्ग से संबंधित थे, नवधनिक नहीं। 1000 ईसवी के पश्चात् गुजरात से प्राप्त अभिलेखों में एक विशिष्ट प्रकार के व्यापारी दृष्टिगोचर होने लगे। इनको नौवित्तक कहा जाता था, जो इससे पूर्व कहीं भी नज़र नहीं आते। यह एक ऐसे व्यापारी को इंगित करता है जो अपना धन (वित्त) जहाज़ों (नाव) से उत्पन्न करता था; दूसरे शब्दों में, यह एक जहाज़ के स्वामित्व वाले व्यापारी को दर्शाता है। इस शब्द का फारसी/अरबी शब्द नाखुदा से गहन संबंध है, अर्थात् नाव (जहाज़) का खुदा या स्वामी। ये दो शब्द नाव और नाखु के संक्षिप्त रूप में तटीय गुजरात के अभिलेखों में अक्सर ही नज़र आने लगे। गुजरात के कुछ लखपति व्यापारियों, जैसे वस्तुपाल और जगदू, ने जहाज़रानी व्यवसाय में पैसा लगाया, हालाँकि वे मूलतः जहाज़ों के मालिक नहीं थे। इस बात में किंचित् संदेह है कि नौवित्तक और नाखुदा बहुत धनी थे।

धात्विक मुद्रा का महत्त्वपूर्ण प्रवाह

व्यापारियों, बाज़ारों, उपभोक्ता वस्तुओं, बंदरगाहों तथा संचार-मार्गों संबंधी ऊपर प्रस्तुत आँकड़े और तर्क प्रारम्भिक मध्यकालीन उत्तर भारत में लंबी दूरी के व्यापार समेत व्यापार के हास की छवि को प्रस्तुत नहीं करते हैं। प्रारम्भिक मध्यकालीन भारत में धात्विक मुद्रा के सापेक्षिक अभाव की समस्या पर यहाँ दृष्टिपात करना तर्कसंगत ही होगा। पूर्वी भारत, विशेषतः बंगाल में, कौड़ियों की व्यापक विद्यमानता अनिवार्यतः यह संकेत नहीं देती कि ये किसी प्रतिबंधित वाणिज्यिक क्षेत्र में लेन-देनों के सूचक थे। कौड़ियाँ बंगाल में स्थानीय रूप से उपलब्ध नहीं हैं। 12वीं, 13वीं, व 14वीं शताब्दी के अरब वृत्तांत और मा-हुआन के विवरण (सोलहवीं शताब्दी का पूर्वाद्ध) प्रचुरता से दर्शाते हैं कि कौड़ियाँ सुदूर मालदीव से बंगाल पहुँचती थीं। ये उन जहाज़ों में लादकर मालदीव से बंगाल लाई जाती थीं जो मालदीव को चावल निर्यात करते थे। कौड़ियाँ इसी कारण लंबी दूरी के व्यापार के अवरोधक नहीं हो सकते, क्योंकि ये हिन्द महासागर में समुद्रपारीय व्यापार में भलीभाँति अंगीभूत थे। कौड़ियाँ थोक वस्तुओं के रूप में जहाज़ों में लाई-ले जाई जाती थीं और हिन्द महासागर की तटवर्ती अर्थव्यवस्था में लघु मुद्रा और उसके पूरक के रूप में काम करती थीं।

हालाँकि बंगाल के पालवंश और सेनवंश के बारे में ज्ञात नहीं है कि वे सिक्के ढालते थे या नहीं, परंतु यह, बहरहाल, बंगाल में सिक्कों की ढलाई न होने को सिद्ध नहीं करता। गत तीन दशकों से निरन्तर शोध स्पष्ट रूप से दर्शाते हैं कि आठवीं से लेकर तेरहवीं शताब्दी तक बंगाल के दक्षिण-पूर्वतम भागों (समाटाटा-हरीकेला सम्भाग) में उत्कृष्ट चाँदी के सिक्के लगातार जारी किए जाते रहे थे। इसकी सूक्ष्म जाँच किए जाने की आवश्यकता है। प्राचीन बंगाल की प्रचलित स्वर्ण मुद्राएँ सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के बाद की नहीं मानी जा सकती हैं। ये सुवर्ण मानक वाले गुप्तकालीन स्वर्ण सिक्कों की नकल थे, परन्तु इनमें अत्यधिक मिलावट थी। परंतु आठवीं शताब्दी के बाद वे उत्कृष्ट चाँदी के सिक्के ढालने लगे, जो सामान्यतः 8 ग्राम भार के होते थे। इन सिक्कों के चित्त पर एक विश्रामावस्था में बैल की आकृति और मुद्रालेख हरीकेला होता था; परन्तु पट हिस्से पर एक तीन भागों में विभक्त प्रतीक-चिह्न होता था। जारी करने वाली राजनीतिक सत्ता का कोई नाम इन सिक्कों पर नहीं था, इन पर सिर्फ क्षेत्र का नाम होता था। हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं कि हरीकेला क्षेत्र बंगलादेश का नौआखली-चिटागांग क्षेत्र था, जो मेघना नदी के पूर्व में था। वाणिज्य के एक क्षेत्र के रूप में हरीकेला के महत्त्व का पहले ही वर्णन किया जा चुका है। इन सिक्कों की इस क्षेत्र से सटे अराकान के चन्द्र शासकों द्वारा जारी इसी प्रकार के चाँदी के सिक्कों से कुछ समानता थी। हरीकेला शब्द की लिखावट का पुरालिपीय विश्लेषण बताता है कि ये उत्कीर्ण सिक्के आठवीं शताब्दी के थे। कमोबेश इसी काल में चित साइड पर पट्टीकेरा शब्द-लेखन वाले इसी प्रकार के चाँदी के सिक्के भी दृष्टिगोचर

होते हैं। पट्टीकेरा, हरीकेला की ही भाँति, एक स्थान-विशेष का संदर्भ देता है जो पैटकारा, कोमिला ज़िला, बंगलादेश से संबंध रखता है। पट्टीकेरा के चाँदी के सिक्कों पर हरीकेला चाँदी के सिक्कों की ढलाई परम्परा का प्रभाव देखा जा सकता है। उम्दा किस्म के चाँदी के सिक्के (जिनमें चाँदी का अंश 90% तक होता था) आठवीं शताब्दी के बाद भी हरीकेला में ढाले जाते रहे, किन्तु कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तनों के साथ। बाद के हरीकेला चाँदी के सिक्के घेरे में चौड़े और पहले से पतले हो गए। मुद्रालेख और चिह्न केवल एक ही तरफ थे, पृष्ठ भाग पूरी तरह से खाली छोड़ दिया जाता था। चित भाग लेटे हुए बैल की आकृति, तीन भागों में विभक्त प्रतीक-चिह्न और मुद्रालेख हरीकेला दर्शाता है। मुद्रालेख हरीकेला को, बाद के चाँदी के सिक्कों में, पुरालिपीय रूप से नौवीं से बारहवीं/तेरहवीं शताब्दी की अवधि का माना गया है। बाद के हरीकेला के चाँदी के सिक्के अतः नौवीं से बारहवीं/तेरहवीं शताब्दी तक प्रचलन में रहे। सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन, बहरहाल, उनकी माप-पद्धति में दृष्टिगोचर होता है। ये सिक्के दो भिन्न-भिन्न मानक भार पर ढाले जाते थे। प्रथम मानक भार 2.3800 से 3.3600 ग्राम के बीच होता था; दूसरे प्रकार का मानक भार 0.8392 से 1.9912 ग्राम के बीच था। ये दोनों ही प्रकार हरीकेला की प्रथम शृंखला के मुकाबले हल्के ही थे, जो 8 ग्राम भार के आसपास के थे। हल्के सिक्के 3.73 ग्राम वाले सुप्रसिद्ध भारतीय कर्षण मानक (32 रत्ती का 57.6 ग्राम) के तदनुरूप ही थे। ये बाद के हरीकेला चाँदी के सिक्के पाल-सेन अभिलेखों में बारंबार नज़र आने वाली मुद्रा के लिये प्रयुक्त शब्दों, जैसे पूरण, द्रम्म, धरण, आदि, के काफी अनुरूप माने जा सकते हैं। दूसरी ओर, बाद के हरीकेला चाँदी के सिक्के दसवीं शताब्दी के उपरांत की संशोधित अरबी दिर्हम रजत-मुद्रा के साथ उनकी स्पष्ट समानता थी। मैनामती (कोमिला ज़िला, बंगलादेश) में हुए उत्खनन से अन्तिम अब्बासिद खलीफा, अल मुस्तासिम अल बिल्लाह (1247-1258 ईसवी) का एक स्वर्ण सिक्का (1258 में) प्राप्त हुआ है। हरीकेला सिक्के, चूँकि पाल-सेन अभिलेखों के पूरण के सदृश होते थे, उन्हें आसानी से अदला-बदला जा सकता था और कौड़ियों में परिवर्तित किया जा सकता था। दक्षिण-पूर्वी बंगाल का मौद्रिक परिदृश्य समन्दर बंदरगाह के सक्रिय व्यापार संबंधी जानकारी से भलीभाँति मेल खाता है। उपर्युक्त कथन इस व्यापक अवधारणा को अमान्य करार देता है कि प्रारंभिक मध्यकाल में बंगाल में कम मूल्य के सिक्के प्रचलन में थे और इसी कारण उसने अपने व्यापार में तीव्र हास का अनुभव झेला। उपर्युक्त सर्वेक्षण यह भी दर्शाता है कि भू-अनुदान और सिक्कों की ढलाई प्रारंभिक मध्यकालीन भारत में किसी प्रदत्त क्षेत्र में पारस्परिक रूप से असंगत नहीं था।

यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि उत्तरी भारत, खासकर गंगा-यमुना दोआब क्षेत्र में, जहाँ ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारंभ तक गुर्जर-प्रतिहारों का आधिपत्य रहा, अनेक प्रारंभिक मध्यकालीन सिक्कों के भण्डार (coin-hoards) मिलते हैं, जो यह दर्शाता है कि "लगभग 600-1000 ईसवी के उत्तर भारत में प्रचलित रहें सिक्कों का परिमाण कुषाणकालीन, सल्तनत एवं मुगलकालीन सिक्कों के परिमाण के तुल्य था, और स्पष्टतः पूर्व गुप्तकाल और राजपूत काल के बाद के सिक्कों के मुकाबले वे उत्कृष्ट थे।" गुर्जर-प्रतिहार राज्य (आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से दसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक) में मुद्रा की कोई कमी नज़र नहीं आती। इस प्रकार न तो पालवंश और सेनवंश के आधिपत्य वाले पूर्वी भारत में, और न ही गुर्जर-प्रतिहार शासनकाल में, इस निष्कर्ष को अंजाम देने के लिए कोई वैध अनुभवजन्य आधार है कि प्रारंभिक मध्यकालीन उत्तर भारत में, खासकर लगभग 600-1000 ईसवी में, कोई 'मौद्रिक अशक्तता' और व्यापार में गिरावट देखी गई।

नगरों का विकास

प्रारंभिक मध्यकाल के व्यापार एवं वाणिज्य में किसी संकटकाल और प्रचलन में रहे सिक्कों की संख्या में तेज़ गिरावट को यदि प्रमाणित करना मुश्किल है तो यह जाँच करना प्रासंगिक होगा कि क्या उत्तर भारत में व्यापक रूप से शहरों का पतन दृष्टिगोचर हो रहा था? उत्तर-गुप्तकाल

के शहरी केन्द्रों के अध्ययन हेतु एक मुख्य बाधा पुरातात्विक सामग्री का अभाव है। प्रारम्भिक मध्यकालीन स्थलों की खोज और खुदाई पर अभी तक कम ही ध्यान दिया गया है, क्योंकि विशेष ध्यान प्रारम्भिक ऐतिहासिक शहरी केन्द्रों पर ही है। ह्वेनसाँग के विवरण वैशाली, पाटलिपुत्र, कुशीनगर, श्रावस्ति और कौशाम्बी जैसे शहरों की क्षीण स्थिति की ओर इशारा करते हैं। हिमालय की पहाड़ियों और नेपाल के तराई क्षेत्र में स्थल मार्गों से जुड़े इन शहरों ने ही संभवतः पतन का अनुभव किया। परन्तु यह फिर भी सभी मुख्य शहरी केन्द्रों के किसी व्यापक पतन की ओर संकेत नहीं करता। प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल के कुछ शहर 600 ईसवी के बाद भी कायम रहे, जैसा कि उपलब्ध पुरातत्वीय सामग्रियों से प्रमाणित होता है। तदनुसार अहिच्छत्रा (बरेली जिला, उत्तर प्रदेश), जो प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल में अस्तित्व में आया, प्रारम्भिक मध्यकाल के दौरान व्यवसायों की एक अटूट शृंखला प्रस्तुत करता है। दिल्ली के पुराना किला क्षेत्र में भी कोई विशेष वीरानगी दृष्टिगोचर नहीं होती है। कुषाण और तुर्की शासनकाल के मध्य निर्बाध रूप से निरन्तरता बनी रही। उत्तर-गुप्तकाल के पुरातत्वीय अवशेष प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल के एक अग्रणी शहरी केन्द्र अतरंजीखेड़ा से प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार, वाराणसी के निकट राजघाट में हुए उत्खनन कार्य 300-700 ईसवी और 700-1200 ईसवी के दौरान इस शहरी केन्द्र में व्यापार की निरन्तरता को स्पष्ट दर्शाते हैं। अहाड़ स्थित पुरातात्विक अवशेष नौवीं और बारहवीं शताब्दी के मध्य के हैं, जिसका अर्थ है कि इस दौरान वहाँ किसी शहरी केन्द्र का अस्तित्व था।

प्रारम्भिक मध्यकाल के अभिलेखों में पुरा, पत्तन और नगर का निरन्तर उल्लेख भी शहरी परम्परा की ओर संकेत करता है। प्रारम्भिक मध्यकाल में उत्तर भारत में कुछ नए शहरी केन्द्र भी उभर कर आए। 867 ईसवी और 904 ईसवी के मध्य स्थापित दस अभिलेख तट्टानन्दपुर का वर्णन विकसित शहर के रूप में करते हैं। इसको एक बन्दरगाह के रूप में भी जाना जाता था जो उसे ग्राम या पल्ली जैसी ग्रामीण बस्तियों से स्पष्टतः भिन्न रूप में दर्शाता है। इसका भलीभाँति विकसित स्वरूप उसकी छोटी व सँकरी गलियों (कुर्थया), चौड़ी सड़कों (बृहदरथ्या) और हट्टमार्गों (विपणन केन्द्र की ओर ले जाते रास्ते) के संदर्भों से स्पष्ट होता है। पत्तन में अवारी या दुकानें तथा गृह या आवासीय संरचनाएँ भी होती थीं। ऐसा स्पष्ट रूप से उल्लेख मिलता है कि एक अवारी या दुकान में पकी ईंट से बने तीन कमरे हुआ करते थे। पकी ईंटें गृह अथवा आवासीय सदनो के निर्माण हेतु भी प्रयोग की जाती थीं। तट्टानन्दपुर (अहाड़) के शहरी केन्द्र का भव्य आकार असंदिग्ध है क्योंकि यह 3800 एकड़ क्षेत्र में फैला हुआ था। सियादोनी, जिसका जिक्र हम मंडपिकाओं के संदर्भ में कर चुके हैं, अपरसरक (ड्योढ़ी अथवा प्रकोष्ठ वाला घर), अवसनिक (आवास) और गृहभित्ती (निवास स्थान) मिलते हैं। जैसा कि हम पहले ही वर्णन कर चुके हैं सियादोनी में अनेक हाट (बाजार) थीं। गोपादी में एक अन्य नगर ग्वालियर में स्थित था जिसका नाम गोपगिरि या गोपाद्री था। कोट्टपाल (दुर्ग प्रमुख) और बलाधिकृत (सेनापति) जैसे महत्त्वपूर्ण राजकार्मियों की विद्यमानता का संकेत करते हैं, जहाँ श्रेष्ठी और सार्थवाह भी सक्रिय थे। इनमें से अनेक नए पत्तनों या पुरों में हमें विभिन्न शिल्पियों की सक्रिय भूमिका का भी पता चलता है : तेली (तैलिका), माली (मालाकार), और आसवक (कल्लपाल)। इन केन्द्रों में प्रमुख तीर्थ स्थल हुआ करते थे जहाँ विभिन्न दिशाओं से आने वाले व्यापारी, प्रशासक, शिल्पकार और धार्मिक विभूतियों का समागम हुआ करता था। इस प्रकार इन केन्द्रों में प्रायः आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक कार्यों का संयोजन हुआ करता था जो शहरी क्षेत्रों के रूप में उनकी उल्लेखनीय जटिलताओं को प्रस्तुत करते थे। हम पहले भी उल्लेख कर चुके हैं कि उत्तर भारत में कुछ मण्डपिकाओं ने किस प्रकार शहरी स्वरूप ग्रहण किया। किसी गाँव से निकले नददुल का नगर के रूप में परिवर्तित हो जाना और फिर अन्ततः स्थानीय चहमना शासकों के राजनीतिक केन्द्र के रूप में इसका उदय इस पर पहले ही चर्चा की जा चुकी है। ऐसा प्रतीत होता है कि नददुला को एक शहरी केन्द्र का रूप प्रदान करने में व्यापार की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। पूर्वी भारत में, महास्थानगढ़ के पुरातात्विक अवशेषों

से स्पष्ट होता है कि प्रारम्भिक ऐतिहासिक शहर पुंड्रानगर प्रारंभिक मध्यकाल में अपने शहरी परम्पराओं में किसी भी प्रकार की विच्छिन्नता का संकेत नहीं देता है। इसके अतिरिक्त, प्रारंभिक मध्यकालीन बंगाल में कुछेक नए शहर भी अस्तित्व में आये : उदाहरण के लिए, रामपाल के नाम पर रामवटी, जिसकी पहचान अमाटी के पुरातात्विक स्थल से की जाती है; लखनौती शहर, जिसका उल्लेख मिन्हाज-उस सिराज द्वारा किया गया है, गौड़ में स्थित था और लक्ष्मणसेन जो बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बंगाल का सेनवंशी राजा था, के नाम पर स्वयं उसी के द्वारा स्थापित किया गया था। प्रत्यक्षतः प्रस्तुत आँकड़े उत्तर भारत में, विशेषकर 600-1000 ईसवी के दौरान, व्यापक अ-शहरीकरण का चित्रण नहीं करते हैं।

प्रारंभिक मध्यकालीन शहरी केन्द्रों पर विस्तृत तथ्यों से प्राप्त विवरणों के अतिरिक्त एक अन्य बात पर भी गंभीरता से ध्यान दिए जाने की ज़रूरत है। शहरों के कल्पित पतन के पीछे मुख्य कारक 500 ईसवी के पश्चात् लंबी दूरी के व्यापार में मंदी प्रतीत होती है। भारतीय सामन्ती संरचना संबंधी इतिहासलेखन यह भी संकेत देता है कि 1000 ईसवी के पश्चात् उत्तर भारत में शहरी पुनर्जागरण दृष्टिगोचर होता है। इस बात का स्पष्ट रूप से संकेत दिया गया है कि भारत के साथ बढ़ते अरबी व्यापार ने 1000 ईसवी के पश्चात् शहरीकरण में आकस्मिक वृद्धि की। अन्य शब्दों में, पूर्वमध्यकालीन भारत के शहरी केन्द्रों के उत्थान और पतन की व्याख्या, इस दृष्टि से भारत के विदेश व्यापार के संदर्भ में या फिर यों कहें, ब्राह्म्य उत्प्रेरक की दृष्टि से की जाती है। यह बड़ी दिलचस्प बात है कि प्रारम्भिक ऐतिहासिक शहरीकरण की उत्पत्ति लौह-तकनीकी के आविर्भाव तथा उसके परिणामस्वरूप कृषि-अधिशेष की उपलब्धता में तलाशी जाती है। दूसरे शब्दों में, वाणिज्य तथा विदेश व्यापार को प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल में शहरी केन्द्रों की उत्पत्ति और विस्तार के प्रमुख कारण के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जाता है। परन्तु उन्हीं शहरों के पतन की व्याख्या व्यापार में कल्पित मंदी के रूप में की जाती है। यदि कृषि विकास को शहर-निर्माण हेतु उत्प्रेरक माना जाए तो प्रारंभिक मध्यकाल में भी तर्कसंगत रूप से इसमें कोई अड़चन नज़र नहीं आनी चाहिए। विद्वानों के बीच एक आम सहमति यह है कि प्रारंभिक मध्यकालीन भारत में अभूतपूर्व कृषि-विस्तार दिखाई दिया। इससे विशाल कृषि-अधिशेष की उपलब्धता और उसकी प्राप्ति में मदद मिली होगी जो पूर्व मध्यकालीन भारत में शहर-निर्माण हेतु मुख्य पूर्वपिक्शा (pre-requisite) थी। ग्याहरवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और बारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के प्रसिद्ध जैन लेखक हेमचन्द्र के अनुसार गाँव प्रायः शहरों के सदृश ही होते थे (ग्रामस्वपुरासन्निभः)। इस संदर्भ में एक विशिष्ट उदाहरण राजस्थान का नददुला गाँव हो सकता है। या तो कुछ प्रारंभिक मध्यकालीन गाँव क्षेत्रफल की दृष्टि से इतने बड़े हो गए कि उनका स्वरूप शहरी हो गया, या फिर कृषि-विस्तार ने कुछ गाँवों में जनसमुदाय के गहन संकेन्द्रण का मार्ग प्रशस्त किया जिसके परिणामस्वरूप उनकी प्रकृति में परिवर्तन आया। जैसा कि विद्वानों का मानना है यह सत्य ही है कि अनेक प्रारंभिक मध्यकालीन शहरी केन्द्र अपने-अपने स्थानीय अथवा क्षेत्रीय मूल से दृढ़ता से जुड़े हुए थे। दूसरी ओर, प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल के शहर मुख्यतः मध्य गंगा मैदानों के शहरों के पैटर्न पर ही विकसित हुए। मध्य गंगा के मैदानों ने इस प्रकार प्रारम्भिक ऐतिहासिक शहरीकरण में एक अधिकेन्द्र (epicentre) की भूमिका निभाई। प्रारंभिक मध्यकालीन शहरों का ऐसा कोई अधिकेन्द्र नहीं था। इसने उन्हें एक विशिष्ट स्वरूप प्रदान किया; यही कारण है कि प्रारंभिक मध्यकालीन शहरों के विषय में कुछ विद्वानों का मत है कि वे भारत में शहरीकरण के तीसरे चरण से संबंधित थे।

14.5 सारांश

यह काल (लगभग 300 ईसवी से लगभग 1300 ईसवी) रोमन (लगभग 250 ईसवी) तथा कुषाण साम्राज्यों (लगभग 262 ईसवी) के पतन का आगाज़ करता हुआ भारत के फलते-फूलते

लंबी दूरी के व्यापार को प्रभावित करता है। परन्तु, इस काल में व्यापारी समुदाय सक्रिय रहे और श्रेणियाँ समृद्ध हुईं। *सार्थवाह* और *नगरश्रेष्ठी* का वर्णन अभिलेखों में बहुधा मिलता है। बाजारों से जुड़ी जानकारी से संबंधित प्रमाणों की प्रचुरता है। मलाय प्रायद्वीप और दक्षिण चीन सागर के साथ समुद्री संपर्क अक्षुण्ण रूप से बने रहे। गुप्तकाल में उत्कृष्ट स्वर्ण एवं रजत मुद्राओं की ढलाई भी इस काल की समृद्धशील अर्थव्यवस्था की सूचक है। इस काल में निरन्तर शहरी विकास भी देखा गया।

विद्वानों के बीच यह तथ्य कि गुप्त और उत्तर गुप्तकाल में शहरों का पतन हुआ था अथवा उल्लेखनीय विकास एक लम्बे विवाद का विषय रहा है। शहरों के पतन के सिद्धांत के पक्षधरों का तर्क है कि रोम साम्राज्य के साथ व्यापार में गिरावट, और हूणों के हमलों ने भारत में व्यापारिक गतिविधियों पर प्रतिकूल प्रभाव डाला। इस काल में शहरी केन्द्रों का पतन तेजी से हुआ; व्यापार का भी ह्रास हुआ; धात्विक मुद्रा (सोना व चाँदी) भी लुप्तप्राय हो गयी, उसके स्थान पर *कौड़ियों* का प्रयोग बढ़ा जो लंबी दूरी के व्यापार के ह्रास का संकेत देता है क्योंकि *कौड़ियों* को सिर्फ छोटे लेन-देनों के लिए ही प्रयोग किया जा सकता था। इस प्रकार वे इस बात पर जोर देते हैं कि लंबी दूरी के व्यापार में एक जोरदार गिरावट दिखाई दे रही थी। इसकी बजाय भू-अनुदान कई गुना बढ़ गए, व्यापारिक गतिविधियों में गिरावट ने आत्मनिर्भर ग्रामीण अर्थव्यवस्था का मार्ग प्रशस्त किया जिसने अंततोगत्वा भारत में सामन्तवाद के उदय हेतु परिस्थितियों को जन्म दिया।

परन्तु, वे जो उक्त तर्क के पक्षधर हैं, वे जोर देकर कहते हैं कि प्रस्तुत तस्वीर बेहद धुंधली थी। उनका मानना है कि न तो बाजार ही पूर्णतः लुप्त हुए, और न ही उत्तर भारत में व्यापार में ही कोई गिरावट नज़र आई। इसकी बजाय इस्लाम के उदय ने इस क्षेत्र में सक्रिय वाणिज्यिक गतिविधियों हेतु मार्ग प्रशस्त किया। बंगाल ने व्यापार और वाणिज्य में अपनी उत्कृष्टता को कायम रखा। *वाणिक*, *सार्थवाह* और *श्रेष्ठी* के संदर्भ लगातार मिलते हैं। यह तर्क कि धात्विक मुद्रा में एक सुस्पष्ट ह्रास दिखाई पड़ता था, बहरहाल, यह नहीं इंगित करता कि व्यापारिक गतिविधियों में गिरावट आयी थी, क्योंकि *कौड़ियाँ* जो बड़ी संख्या में बंगाल में व्यापार के लिए प्रयोग की जाती थीं, स्वयं बंगाल का उत्पाद नहीं थीं बल्कि सुदूर मालदीव से बंगाल लाई जाती थीं। इस काल में *हरीकेला* की स्थिति वाणिज्यिक गतिविधियों के क्षेत्र में लगातार उच्च बनी रही। हमें इस क्षेत्र में ढले बड़ी संख्या में उत्कृष्ट चाँदी के सिक्के मिलते हैं। यहाँ तक कि मुद्रा-भंडारों (*coin-hoards*) में, जिसमें गुर्जर-प्रतिहारों के सिक्कों का प्रभुत्व था, भी उत्तर भारत में मुद्रा-प्रचलन के विस्तृत परिमाण को दर्शाते हैं। इसमें शहरी केन्द्रों के विकास का योगदान भी लगातार अक्षुण्ण रहा। इस बात में कोई शक नहीं कि प्राचीन केन्द्रों में ह्रास के चिह्न दिखाई देते हैं मगर उनके स्थान पर नए केन्द्र भी उभरकर आये। इस काल में 'अभूतपूर्व कृषि-विस्तार' भी हुआ।

14.6 शब्दावली

अब्बासिद खलीफा का पद
(*Abbasid Caliphate*)

750 ईसवी में उमय्या खलीफाओं के स्थान पर अब्बासिद आए। 762 ईसवी में वे अपनी राजधानी सीरिया में डेमस्कस से हटाकर इराक के नए शहर बगदाद ले गए। अब्बासिदों ने समस्त पश्चिमी एशिया और उत्तर अफ्रीका पर 750 ईसवी से लेकर लगभग 1000 ईसवी, अर्थात् जब वे कमज़ोर पड़ना शुरू हो गए, तक शासन किया। सबसे पहले उत्तरी अफ्रीका उनसे अलग हुआ और फ़ातिमिदों के अधीन एक-स्वतंत्र राज्य बन गया। 1258 ईसवी में अब्बासिद वंश का अंत हो गया।

अल बबेलहुन अराकान
(Al Babelhun Arakan)

अराकान उत्तर में भारत, पूर्व में बर्मा और पश्चिम में बंगलादेश से घिरा है। अराकान रोमा (रखैन्ग रोमा) नामक पर्वतमाला बर्मा और अराकान के निवासियों के बीच अन्तर-संचार कर अवरोधक है। यह दक्षिण-पश्चिम में बंगाल की खाड़ी से घिरा हुआ है। अराकान आजकल बर्मा-संघ के अधीन है।

व्यापार, व्यापार-तंत्र एवं
शहरीकरण : उत्तर भारत

फ़ातिमिद खलीफा पद
(Fatimid Caliphate)

फ़ातिमिदों ने उत्तर अफ्रीका, मिस्र और फिलिस्तीन पर 10वीं से 12वीं शताब्दी ईसवी तक शासन किया। फ़ातिमिद मुहम्मद की पुत्री, और चौथे खलीफा एवं प्रथम शिया इमाम अली की पत्नी फ़ातिमा के वंशज होने का दावा करते हैं। फ़ातिमिदों का परम लक्ष्य था बग़दाद के अब्बासिद खलीफा को हटाकर अपने खलीफा को स्थापित करना। खलीफा उबैद उल्ला ने बग़दाद के सुन्नी खलीफा के विरोध में 909 ईसवी में कैरो में स्वयं को खलीफा घोषित किया। उन्होंने फ़ारस की खाड़ी से होकर जाने वाले पूर्ववर्ती समुद्री-मार्ग के स्थान पर एशिया जाने के लिए लाल सागर होकर एक नया समुद्री मार्ग स्थापित किया।

गुर्जर-प्रतिहार
(Gurjara-Pratihara)

इस वंश की स्थापना आठवीं शताब्दी में नागभट्ट प्रथम द्वारा हुई। यह राज्य अपने उत्कर्ष पर राजा भोज (836-90) और महेन्द्रपाल (890-910) के शासनकाल में पहुँचा। इसकी राजधानी कन्नौज थी। यह वंश 10वीं शताब्दी में राष्ट्रकूटों के लगातार हमलों के कारण कमज़ोर हो गया और इसकी शक्ति पूरी तरह नष्ट हो गई जब 1018 ईसवी में गज़नी के शासक मोहम्मद गज़नवी ने कन्नौज को लूटा।

हूण
(Huna)

वे मध्य एशिया के घुमन्तु और पशुपालक समुदाय थे। वे देखने में मंगोलियाई लगते थे। अपनी द्रुत अश्व-शक्ति द्वारा उन्होंने सैन्य सर्वोच्चता हासिल की। हूण इतिहास में तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व में दृष्टिगत होते हैं जब उन्हें चीन से बाहर रखने के लिए चीन की विशाल दीवार बनवाई गई थी। हूण राज्य आधुनिक हंगेरी में केन्द्रित था। अत्तीला (434-453 ईसवी) उनका सबसे सशक्त राजा था। हूणों का शासन काला सागर (Black Sea) के उत्तर में राइन से लेकर सुदूर कैस्पियन सागर तक फैला हुआ था। गुप्त वंश भी 480 ईसवी में हूणों के आक्रमणों का शिकार हुआ। वे 30 वर्षों की एक छोटी सी अवधि के लिए तोरमाण के नेतृत्व में 500 ईसवी के आसपास मालवा में अपना राज्य स्थापित करने में सफल रहे। उसके पुत्र और उत्तराधिकारी मिहिरकुल ने उत्तर भारत को जीता परन्तु शीघ्र ही यशोधर्मन द्वारा उन्हें कश्मीर में खदेड़ दिया गया जहाँ 542 ईसवी में उसकी मृत्यु हो गई।

प्रारम्भिक मध्यकालीन अर्थव्यवस्था
और उसकी निरन्तरताएँ

मलाय प्रायद्वीप
(Malay Peninsula)

यह वह क्षेत्र है जो आजकल प्रायद्वीपीय मलेशिया और दक्षिण-पूर्व एशिया के समीपस्थ द्वीपों का महासागर है; इसमें सुमात्रा का पूर्वी तट, बोर्नियो का तट, और इन क्षेत्रों के बीच पड़ने वाले छोटे-छोटे द्वीप शामिल हैं। यह हिन्द महासागर के अंडमान सागर तथा पश्चिम में मलक्का के आरम्भ एवं थाईलैण्ड की खाड़ी और पूर्व में दक्षिण चीन सागर के बीच स्थित है। इस प्रायद्वीप का उत्तरी भाग थाईलैण्ड के एक हिस्से का निर्माण करता है; दक्षिणी भाग में पश्चिम मलेशिया, मलेशिया का मलय भाग आता है।

लाल मृदभाड
(Red Ware)

एक प्रकार के मिट्टी के बर्तन जो लाल रंग के होते हैं परन्तु चित्रित नहीं होते। उनको पकाकर लाल किया जाता है। तटीय गुजरात और इराक के दक्षिण-पश्चिम में सिन्धु डेल्टा में इनका काफी प्रचलन था।

सासानिद साम्राज्य
(Sassanid Empire)
(226-651 AD)

उन्होंने आर्मेनियाई द्वारा हासिल सीमाओं के भीतर स्थूल रूप से, अपना साम्राज्य स्थापित किया, जिसकी राजधानी टेसीफों (Ctesiphon) थी। इस वंश की स्थापना राजा अर्दशीर प्रथम द्वारा की गई थी जो पार्थ के शासक का सामंत था। शापुर प्रथम (241-272) ने रोमाओं पर दो बार आक्रमण कर उन्हें बुरी तरह परास्त कर जीत हासिल की, बाद में उसने कुषाणों पर हमला किया और उनकी राजधानी पेशावर पर कब्जा कर लिया। अन्तिम सासानिद शासक यज्दगार्द तृतीय (632-636 ईसवी) था। अरबों ने तेसीफों पर को 651 ई. में कब्जा कर लिया, अन्तिम सासानिद शासक की मृत्यु भगोड़े के रूप में हुई।

पश्चिमी क्षत्रप शासक
(Western Kshatrapa Rulers)

एक शक शासनवंश जिसने पश्चिमी भारत और मालवा पर शासन किया।

14.7 अभ्यास

- 1) 300-1300 ईसवी के दौरान व्यापार और वाणिज्य के विकास के मूल्यांकन में अभिलेखों और सिक्कों की भूमिका का विश्लेषण कीजिए।
- 2) ह्वेनसांग के विवरण के प्रकाश में 300-1300 ईसवी के दौरान वाणिज्यिक गतिविधियों की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए।
- 3) शहरी पतन के मुद्दे पर इतिहासकारों के मध्य विवादों की चर्चा कीजिए। आपके विचार से कौन-सा तर्क अधिक तर्कसंगत है और क्यों?

14.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बसक, आर.जी. (1919), 'द फाइव दामोदर कॉपर प्लेट इंसक्रिप्शन्स ऑफ द गुप्ता पीरियड', ऐपिग्राफिया इंडिका, खंड-XV पृ. 113-115.

चक्रवर्ती, रनबीर (2002), ट्रेड एंड ट्रेडर्स इन अर्ली इंडियन सोसाइटी, नई दिल्ली.

चक्रवर्ती, रनबीर (सं.) (2001), ट्रेड इन अर्ली इंडिया, नई दिल्ली.

चन्द्र, सतीश (सं.) (1987), द इंडियन ओशन : एक्सप्लोरेशन्स इन हिस्ट्री, कॉमर्स एंड ज्योग्राफी, नई दिल्ली.

- चट्टोपाध्याय, बी.डी. (सं.) (1987), *एँसेज इन एन्शिअंट इंडियन इकॉनॉमिक हिस्ट्री*, नई दिल्ली.
- चट्टोपाध्याय, बी.डी. (1994), *द मेकिंग ऑफ अर्ली मिडिवल इंडिया*, नई दिल्ली.
- चौधरी, के.एन. (1985), *ट्रेड एंड सिविलाइजेशन इन द इंडियन ओशन फ्रॉम द राइज़ ऑफ इस्लाम टु 1750*, कैम्ब्रिज.
- कुर्टिन, फिलिप डी. (1984), *क्रॉस-कल्चरल ट्रेड इन वर्ल्ड हिस्ट्री*, कैम्ब्रिज.
- डेल, जॉन एस. (1990), *लिविंग विदआउट सिल्वर, मॉनिटरी हिस्ट्री ऑफ अर्ली मिडिवल नॉर्थ इंडिया*, नई दिल्ली.
- घोष, ए. (सं.) (1989), *एन एनसाइक्लोपीडिया ऑफ इंडियन आर्कियालॉजी*, दो खंडों में, नई दिल्ली.
- गोहते, एस.डी. (1973), *लैटर्स ऑफ मिडिवल ज्यूइश ट्रेडर्स*, प्रिंसटन.
- गोपाल, लल्लन जी (1965), *द इकॉनॉमिक लाइफ ऑफ नॉर्दन इंडिया, C. 700-1200 AD*, वाराणसी
- गोपाल, लल्लन जी (1966), *अर्ली मिडिवल क्वाइन टाइप्स इन नॉर्थ इंडिया*, वाराणसी.
- हूरानी, जी.एफ. (1951), *अरब सीफेरिंग इन द इंडियन ओशन इयूरिंग द एंशिअन्ट एंड मिडिवल टाइम्स*, बेरुत.
- जैन, वी.के. (1989), *कॉइनेज, ट्रेड एंड इकॉनॉमी, एंशिअन्ट अंजानेडी*.
- ज्ञा, डी.एन. (1967), *रैविन्यु सिस्टम इन द पोस्ट-मौर्य एंड गुप्ता टाइम्स*, कलकत्ता.
- जैन, वी.के. (सं.) (2000), *द फ्यूडल ऑर्डर*, नई दिल्ली.
- कोसाम्बी, डी.डी. (1956), *एन इंट्रोडक्शन टु द स्टडी ऑफ इंडियन हिस्ट्री*, बम्बई.
- मैटी, एस. के. (1957), *इकॉनॉमिक लाइफ ऑफ नॉर्दन इंडिया इन द गुप्ता पीरियड, (C.300-550AD)*, कलकत्ता.
- मजूमदार, बी.पी. (1960), *द सोशियो-इकॉनॉमिक हिस्ट्री ऑफ नॉर्दन इंडिया*, कलकत्ता.
- मुखिया, हरबंस (सं.) (1999), *द फ्यूडलिज़्म डिबेट*, नई दिल्ली.
- रे, निहारंजन, बी.डी. चट्टोपाध्याय, रनबीर चक्रवर्ती एवं वी. आर. मणि (2000), *ए सोर्सबुक ऑफ इंडियन सिविलाइजेशन*, हैदराबाद.
- शर्मा, आर.एस. (1966), *अर्ली मिडिवल इंडियन सोसाइटी, ए स्टडी इन फ्यूडलाइजेशन*, नई दिल्ली.
- शर्मा, आर.एस. (1980), *इंडियन फ्यूडलिज़्म*, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण.
- शर्मा, आर.एस. (1983), *पर्सपेक्टिव्स इन द सोशल एंड इकॉनॉमिक हिस्ट्री ऑफ अर्ली इंडिया*, नई दिल्ली.
- शर्मा, आर.एस. (1987), *अर्बन डिके इन इंडिया ए.डी. 300-1000*, नई दिल्ली.
- थापर, रोमिला (1993), *इंटरप्रेटिंग अर्ली इंडिया*, नई दिल्ली.
- थापर, रोमिला (सं.) (1995), *रीसेंट पर्सपेक्टिव्स ऑफ अर्ली इंडियन हिस्ट्री*, बम्बई.
- यादव, बी.एन.एस. (1974), *सोसाइटी एंड कल्चर इन नॉर्थ इंडिया इन द ट्वैल्थ सैचुरि*, इलाहाबाद.